दो आब

शमशेर बहादुर सिंह

मूल्य २)

प्रकाशक : सरस्वती प्रेस, पो० बा० २२, बनारस
मुद्रक : श्रीपतराय, सरस्वती प्रेस, बनारस

सादर,

गुरुवर प्रोफ़ेसर एजाज़ हुसैन साहब को

जिनकी क्लास में बैठकर मैंने उर्दू शायरी को प्यार करना सीखा।

और

श्री शान्तिप्रियजी द्विवेदी को

जिन्होंने पहले-पहल हिन्दी गद्य लिखने का शौक़ मेरे अन्दर जगाया।

दो शब्द

मुझे उम्मीद है कि ये लेख दिलचस्प पाये जायँगे, और कारामद भी

१४६, एलेनगंज,
प्रयाग, २५ मई, १९४८

शमशेर बहादुर सिंह

क्रम

१—'मुसद्दस' और 'भारत-भारती' की सांस्कृतिक भूमिका		...	९
२—राष्ट्रीय वसन्त की प्रथम कोकिला	..	...	२८
३—'पल्लविनी'	..	...	३५
४—'ग्राम्या' एक परिचय	...	...	४०
५—मुक्त-छन्द	...	...	५७
६—'पलाश-वन'	...	...	६३
७—'सतरंगिनी'	...	...	६७
८—"अपनी रोटी, अपना राज !"	...	...	७०
९—सात आधुनिक हिन्दी कवि	...	...	७४
१०—पहाड़ी की कहानी-कला : 'सफ़र'	...	...	८५
११—उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : कहानीकार	...	...	९०
१२—'तिलिस्मे-खयाल' में हमारे रोगी समाज की झाँकियाँ		...	९६
१३—उर्दू कविता	...	...	१०८
१४—एक फ़ुटनोट : उर्दू शायरी का 'आधुनिक' रंग		...	१२२
१५—इकबाल की कविता	...	...	१२४
१६—उर्दू कवयित्रियाँ—१	...	...	१४५
१७—,, ,, आधुनिक युग—२.	...	...	१६७

'मुसद्दस' और 'भारत भारती' की सांस्कृतिक भूमिका

(१

हाली की मशहूर कौमी नज़्म 'मुसद्दस' अब से छः पीढ़ी पूर्व और मैथिली शरणजी की 'भारत भारती' चार पीढी पूर्व देश की जागरूक भावनाओं का प्रतिविम्ब हैं। दोनों मिलकर हमारी आज की जातिगत राष्ट्रीय भावनाओं की भूमिका प्रस्तुत करती हैं। दोनों में हमारी संस्कृति के मुख्य आधारों का परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। 'मुसद्दस' में मुस्लिम संस्कृति का, 'भारत भारती' मे हिन्दू संस्कृति का।

इन दोनों कविताओं में कवियों ने बहुत कठिन ज़िम्मेदारी अपने ऊपर ली और उसे शक्ति-भर निभाया। उन्होंने लोकप्रिय काव्य-रूप में जातीय इतिहास का मूल्याकन, "वर्तमान" का सच्चा वर्णन, और भविष्य के लिये स्पष्ट कर्तव्य-निर्देश हमें दिया।

दोनों में कवि अपने पाठक से कहता है कि समय बदल गया है, तुम्हें भी उसके अनुरूप बदल जाना चाहिये—मगर अपनी परम्परा की मर्यादा रखते हुए।

हम लेख के पहले भाग में 'मुसद्दस' को लेंगे।

हाली कहते हैं—

"...ज़माने का नया ठाट देखकर पुरानी शायरी से दिल भर गया था और झूठे ढकोसले बाँधने से शर्म आने लगी थी।...कौम के एक सच्चे खैरख्वाह ने...आकर मलामत की[1] और ग़ैरत[2] दिलायी कि हैवाने-नातिक[3] होने का दावा करना और खुदा की दी हुई ज़बान से कुछ काम न लेना बड़े शर्म की बात है।"

"कौम की हालत तबाह है।...मगर नज़्म...कौम को जगाने के लिये अब तक किसी ने नहीं लिखी।" अस्तु, "बरसों की बुझी हुई तबीअत में एक वलवला[4] पैदा हुआ, और बासी कढी में एक उबाल आया।

१—झिड़का। २—शर्म। ३—मुँह से बोल लेनेवाला जीव। ४—उमंग।

अफ़सुर्दा[1] दिल, बोसीदा[2] दिमाग, जो अमराज़[3] के मुतवातिर[4] हमलों से किसी काम के न रहे थे, उन्हीं से काम लेना शुरू किया और एक मुसद्दस[5] की बुनियाद डाली।"

—'मुसद्दस' की भूमिका।

यह 'कौम का सच्चा ख़ैरख़्वाह' सर सैयद अहमद खाँ था। सर सैयद अहमद उस समय मुसलमानों में एक बहुत बडे सांस्कृतिक आन्दोलन की पेशवाई कर रहे थे। हाली के 'मुसद्दस' का सम्बन्ध उसी आन्दोलन से है। इसको समझने के लिये यहाँ मुसलमानों के राष्ट्रीय इतिहास की एक झलक ले लेना ज़रूरी होगा।

सन् सत्तावन की क्रान्ति विफल हो जाने के बाद मुसलमानों में भारी निराशा और पस्ती छा गयी। मुगल साम्राज्य, अवध की नवाबी और कितनी ही रियासतें, बड़ी बड़ी जागीरें, और उनका वैभव और सत्ता, खत्म हो चुकी थी, और उनके साथ साथ वे सांस्कृतिक संस्थाएँ भी, जिनका पोषण उन अमलदारियों में होता आया था। शिक्षा के लिए एक तिहाई माफ़ियाँ ('वक़्फ़') मुसलमानों को मिली हुई थीं, वे सब सरकार ने अपने हाथ में ले लीं। फौजी महकमा भी मुसलमानों के लिये बन्द हो गया। गवरमेंट को मुसलमानों पर भरोसा नहीं था। पंजाब में, लगभग सन् १८३० से अँग्रेज़-विरोध पहले ही हावी आन्दोलन का रूप धारण कर चुका था। यह कई पीढी तक चला। इस सक्रिय विरोध के पीछे पुनरुत्थान की तीव्र भावना थी।

मौलवियों ने अपने फ़तवों में घोषित किया कि फ़िरंगी इसलाम का दुश्मन है। तीव्र अँग्रेज़-विरोधी कटुता मुसलमानों में भर गयी, लेकिन उनका आंदोलन दबा दिया गया। फलस्वरूप पस्ती और निराशा के वातावरण में मुस्लिम समाज की मर्यादा नष्ट होने लगी। इस दशा को साफ़-साफ़ सबसे पहले देखा सर सैयद ने।

१—मुर्झाया हुआ। २—सड़ा हुआ। ३—रोग। ४—लगातार ५—'मुसद्दस' का अर्थ है छः-छः पदों के बन्द वाली कविता। हाली के इस मुसद्दस का शीर्षक 'मद्दो-जुज़े इस्लाम' अर्थात् 'इस्लाम का ज्वार-भाटा' है, पर वह 'मुसद्दसे-हाली' अथवा केवल 'मुसद्दस' के नाम से ही अधिक विख्यात है।

सर सैयद ने मुसलमानों को चेतावनी दी कि युग की माँगें बदल गयीं हैं। संसार की जातियों में प्रगति की होड़ लगी हुई है। जिस जाति के अधिकार में विज्ञान, व्यापार और राजनीति की बागडोर होगी, वही औरों से बाज़ी ले जायगी। उन्होंने मुसलमानों को अन्धविश्वास और अकर्मण्यता के गर्त से निकालकर देश की सामान्य राजनीतिक तथा सामाजिक प्रगति में योग्यता से भाग लेने के लिये प्रोत्साहित किया। उनके लिये अलीगढ और दिल्ली में कालेजों की नींव डाली, स्कूल खोले, अखबार जारी किया, सभाओं और असेम्बली में हर प्रकार से उनकी उन्नति के लिये प्रचार किया।

हाली ने भी अपनी कविता का पुराना स्वर बदल दिया, और जाति और देश के लिये मंगलकारी उद्देश्यपूर्ण रचनाएँ लिखना आरम्भ कर दीं, जैसे—'बेवाओं की मनाजात,' 'बरखा-रुत', आधुनिक शैली पर काव्यालोचना, आदि। देशवासियों की भावनाओं का परिष्कार और परिमार्जन वे उसी प्रकार कर रहे थे जिस प्रकार सर सैयद उनकी रूढ मान्यताओं और पुराने विचारों का। उत्तर भारत के सांस्कृतिक समुत्थान में हाली के इसलिये ऐतिहासिक महत्त्व है।

हाली का 'मुसद्दस' मुसलमानों की एक छोटी-मोटी गुटका रामायण ही समझना चाहिए। हाली ने भी शायद इस 'मुसद्दस' से सुन्दर और महत्त्वपूर्ण दूसरी कविता नहीं लिखी।

'मुसद्दस' का आरम्भ इस रुबाई से होता है—

पस्ती का कोई हद से गुज़रना देखे!
इस्लाम का गिरकर न उभरना देखे!
माने न कभी कि मद है हर जज़्र के बाद
दरिया का हमारे जो उतरना देखे!

हाली के काव्य में उनका पूरा युग बोलता है। उस युग की पूरी माँगें मुखर होती हैं, और कितना दर्द है उस स्वर की उन्मुखता में, कितना निश्छल अपनाव, कितना सीधा-सादा असर!

बहुत आग चिलमों की सुलगाने वाले,
बहुत घास की गठरियाँ लाने वाले,

बहुत दर-ब-दर माँगकर खाने वाले,
बहुत फ़ाके कर-करके मर जाने वाले,
—जो पूछो कि किस खान के हैं वो जौहर
तो निकलेंगे नस्ले-मलूक[1] उनमें अक्सर।
यह जो कुछ हुआ, एक शम्मा है उसका
कि जो वक्त यारों पे है आने वाला ,...
नहीं गर्चे कुछ कौम में हाल बाकी,
अभी और होना है परमाल बाकी।

हाली ने क़ौम की दर्दनाक हालत देखी, लेकिन वह इस अवनति से हताश नहीं हुए।

'ज़मीमे' ('मुसद्दस' के परिशिष्ट भाग) में आशा का धुँधला प्रकाश इस गहरी करुणा के विराम को मिटाने लगता है। हम देखते हैं, धीरे धीरे उभर, समाज के प्रत्येक अग में करवटें लेती, अलसाई चेतना किस प्रकार शैथिल्य को त्याग कर जीवन को प्रगति की ओर उन्मुख कर रही है :—

बहुत दिन से दरिया का पानी खड़ा था।...
हुई थी थे पानी से ज़ायल रवानी
कि मुश्किल से कह सकते थे उसको पानी,
पर अब उसमें रौ कुछ-कुछ आने लगी है,
किनारों को उसके हिलाने लगी है,
हवा बुलबुले कुछ उठाने लगी है,
अ.फ़ूनत[2] वो पानी से जाने लगी है......

और लोग अब—

ज़रा दस्तो बाज़ू हिलाने लगे हैं;
वो सोते में कुछ कुलबुलाने लगे हैं।...
बुज़ुर्गों के दावों से फिरने लगे हैं,
वो ख़ुद अपनी नज़रों से गिरने लगे हैं।...

१—राजसी घराने के। २—दुर्गन्ध।

नयी रोशनी से हैं आँखें चुराते,
मगर साथ ही यह भी हैं कहते जाते,
कि दुनिया नहीं गर्चे रहने के काबिल
पर इस तरह दुनिया में रहना है मुश्किल...
धुएँ कुछ दिलों से निकलने लगे हैं,
कुछ आरे-से सीनों पे चलने लगे हैं,
वो ग़फ़लत की रातें गुज़रने को हैं अब,
नशे जो चढे थे उतरने को हैं अब।...
नहीं गर्चे कुछ दर्दे-इस्लाम उनको,
बराबर है, हो सुब्ह या शाम, उनको,
मगर कौम की सुनके कोई मुसीबत,
उन्हें कुछ-न-कुछ आ ही जाती है रिक्कत[1]।

मेहनत करने की ठानकर कुछ लोग उठते हैं, अपने को वक्त के तकाज़ों पर ढालते हैं। समाज की रोज़मर्रा ज़िन्दगी के हर मोड़ पर वह अपने उपयोग और अपनी इन्सानियत का सबूत देते हैं। पर कुछ काहिलुलवजूद, सन्देहधारी भी हैं, जो स्वार्थी हैं, चाहते हैं बस खाने को पेट भर मिलता रहे, मेहनत की सख्तियाँ उठाने की उनमें हिम्मत नहीं, अपनी निष्फलता पर रोते हैं, कि दैव उनसे प्रसन्न नहीं।

हाली कहते हैं कि इन्हीं निकम्मों ने, जो नहीं जानते कि 'हरकत में होती है बरकत खुदा की,' सल्तनतों को तबाह कर दिया है। वे आगाह करते हैं कि—

बचो ऐसे शूमों की परछाइयों से
डरो ऐसे चुपचाप यग़ामइयों[2] से।

लेकिन पुरुषार्थों का भी एक संसार है। ये पुरुषार्थी हैं किसान-मज़दूर और उनके साथी बुद्धिजीवी। इनकी प्रशस्ति हाली ने दिल खोलकर लिखी है।

वो थकते हैं और चैन पाती है दुनिया,
कमाते हैं वह और खाती है दुनिया।..

१—झेंप, शर्मिन्दगी। २—लुटेरों।

समझते नहीं इसमें जाँ अपनी जाँ को,
वो मर मर के रखते हैं ज़िन्दा जहाँ को।
न लू जेठ की दम तुड़ाती है उनका,
न ठिर माघ की जी छुड़ाती है उनका।
उन्हीं का उजाला है हर रहगुज़र में
उन्हीं की है यह रौशनी दश्तो-दर[1] में।
हरेक मुल्क में ख़ैरो-बरकत है उनसे
हरेक कौम की शानो-शौकत है उनसे।
नजाबत है उनसे, शराफत है उनसे,
शरफ़[2] उनसे, फख्र उनसे, इज्ज़त है उनसे।

फिर हाली विज्ञान की दुनिया में अपनी जाति का आह्वान करते हैं। इसी दुनिया में पश्चिमी राष्ट्रों ने पूर्व को परास्त किया है।

बस अब इल्मो-फन के वो फैलाओ सामाँ
कि नस्लें तुम्हारी बनें जिनसे इन्साँ,
ग़रीबों को राहे-तरक्की हो आसाँ,
अमीरों में हो नूरे-तालिम ताबाँ[3]।...
रईसों की, जागीरदारों की दौलत,
फ़क़ीहों[4] की, दानिशवरों[5] की फ़ज़ीलत[6],
बुज़ुर्गों की औ' वाईज़ों[7] की नसीहत
अदीबों[8] की औ' शायरों की फसाहत[9]
बचे तब कुछ आँखों में अहले-वतन की
जो काम आये बहबूद में[10] में अंजुमन की।

हाली जन-समाज के बढ़ते हुए आत्मविश्वास को, लोकतन्त्र की बढ़ती रौ को, आनेवाले आन्दोलनों को, धुँधला-धुँधला मगर असंदिग्ध रूप से महसूस

१—जंगल और बस्ती। २—श्रेष्ठता। ३—दीप्त। ४—धर्मशास्त्र वेत्ताओं। ५—बुद्धिमानों। ६—श्रेष्ठता। ७—उपदेशकों। ८—साहित्यिकों। ९—रसज्ञता। १०—भलाई।

कर रहे थे। इसीलिये इस्लाम का लोकतन्त्रवादी पहलू अपने पाठकों के सामने रखा और अपने नबी को एक पेशवा, लगभग एक नये राष्ट्र के प्रेसिडेन्ट-का सा दर्जा दिया—एक श्रेष्ठ मानव का, देवता का नहीं, एक ऐसे मनुष्य का जो अपने अनुयायियों को स्पष्ट समझाकर कहता है कि मेरी हद से रुतबा न मेरा बढ़ाना...,

नहीं बन्दा होने में कुछ मुझसे कम तुम,
कि बेचारगी में बराबर हैं हम तुम।
मुझे दी है हक ने बस इतनी बुज़ुर्गी
कि बन्दा भी हूँ उसका औ' एलची[1] भी।

हाली ने अपनी रचना में कहीं भी व्यक्ति को समाज में पहला स्थान नहीं दिया, बल्कि साफ़ कहा कि—

जमाअत[2] की इज़्ज़त में है सबकी इज़्ज़त,
जमाअत की ज़िल्लत[3] में है सबकी ज़िल्लत।
रही है न हरगिज़ रहेगी सलामत—
न शख्सी[4] बुज़ुर्गी, न शख़्सी हुकूमत।

अहं का भाव इस पूरे 'मुसद्दस' में कहीं नहीं उठता। हाली में किसी प्रकार की साम्प्रदायिक संकीर्णता की बू कहीं दूर तक भी हमें नहीं मिलती। ऐसी भावना, उनके चरित्र के, जैसा हम उसे जानते हैं, विरुद्ध होती। नबी ने धार्मिक संकीर्णता और विद्वेष से अनुयायियों को दूर रखा था। 'मुसद्दस' के शब्दों में, उसने—

डराया तअस्सुब[5] से उनको य' कहकर
कि ज़िन्दा रहा-औ' मरा जो इसी पर
हुआ वह हमारी जमाअत से बाहर,
वो साथी हमारा, न हम उसके यावर[6]।
कहा—है य' इसलामियों की अलामत[7]
कि हमसाये[8] से रखते हैं वो मोहब्बत।

१—दूत। २—संघ, समाज। ३—अपमान। ४—व्यक्ति की। ५—धार्मिक असहिष्णुता। ६—मददगार। ७—पहचान। ८—पड़ोसी।

वो जो हक़ से अपने लिये चाहते हैं,
वही हर बशर के लिये चाहते हैं।

जब हम पूरी रचना को देखते हैं तो उसका सङ्गठन अद्भुत रूप से पुष्ट जान पड़ता है। कोई एक भाव बिलकुल उसी रूप में दोहराया नहीं गया। पूरी कविता की कड़ियाँ आपस में इस तरह गुथी हुई हैं, कि अगर एक को भी तोड़कर अलग करें तो पूरी कविता का सौन्दर्य उसी परिमाण में टूटता और बिखरता है। एक-एक बन्द की लड़ी भी स्वय पूरी शृङ्खला में बँधी रहकर ही अपना पूरा चमत्कार और प्रभाव दिखाती है। किसी कलात्मक रचना की सफलता की शायद सबसे बड़ी कसौटी यही है कि उसके सब जोड़-बन्द इस तरह एक-दूसरे से मिले हुए चले जायँ कि वह एकाएक महसूस न हों। इस दृष्टिकोण से यह पूरा 'मुसद्दस'—('रुबाई'), 'मुसद्दस', 'ज़मीमा' (परिशिष्ट), बल्कि 'दुआ'* को भी मिलाकर—एक प्रबन्ध-काव्य नहीं, एक लिरिक काव्य है। इसका वही रस-सौन्दर्य है जो एक सरस दोहे का होता अथवा एक शेर या 'सानेट' का माना जाता है, अर्थात् सम्पूर्ण रचनायें भावों की आन्तरिक एकता की सहज परिव्याप्ति, जैसे सगीत के राग में होती है।

हाली यूनानी, शेष योरपीय और अँग्रेज़ी साहित्य की ऐतिहासिक रूप-रेखा और उनकी विशिष्ट रचनाओं से परिचित थे और अपनी रचनाओं की भाव-भूमि को प्रशस्त रूप से उदार और आधुनिक बनाने में उस ज्ञान से उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया था।

उनकी रचनाओं में—इस 'मुसद्दस' में तो और भी—अपने देश और अपनी जाति से ही नहीं, संसार की समस्त जातियों और देशों से उनका स्वाभाविक प्रेम झलकता है। उनकी उन्नति से ईर्ष्या का नहीं, स्पर्धा का भाव उनमें जोश मारता है। एक स्थान पर वह कहते हैं कि अगर कोई ऐसा ऊँचा टीला हो कि वहाँ से सारी दुनिया नज़र आती हो, और फिर उस पर एक ज्ञानी चढे 'कि क़ुदरत के दंगल का देखे तमाशा', तो—

* ताज सस्करण।

वह देखेगा हरसू[1] हज़ारों चमन वाँ :
बहुत ताज़ातर सूरते-बाग़े-रिज़वाँ[2] ;
बहुत उनसे कमतर, प' सरसब्ज़ो-ख़न्दाँ[3] ;
बहुत, ख़ुश्क औ' बेतरावत—मगर हाँ,
नहीं लाए गो बर्गो बार[4] उनके पौदे,
नज़र आते हैं होनहार उनके पौदे।

इस पूरे बन्द के लहजे में ससार की विभिन्न जातियों से हाली का वही प्रेम टपकता है जो एक पुराने माली का अपने उद्यान से होता है।

देश-प्रेम निस्सन्देह हाली में कूट-कूटकर भरा था। 'हुब्बे-वतन' नामक अपनी मशहूर कविता में, जो आज से सत्तर साल पहले लिखी गयी थी, वह स्वदेश से, अपने सर्वोच्च स्वर्ग से, पूछते हैं :—

ए वतन, ए मेरे बहिश्ते-बरीं !
क्या हुए तेरे आसमान् ओ ज़मीं !

"...कौम के लिये अपने बेहुनर हाथों से एक आईनाखाना बनाया, जिसमें आकर वह अपने खतो-खाल देख सकते हैं कि हम कौन थे और क्या हो गये।"

—हाली ('मुसद्दस' की पहली भूमिका)

(२)

"आओ, विचारें आज मिलकर ये समस्याएँ सभी,
हम कौन थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।"

—मैथिलीशरण ('भारत-भारती')

'भारत-भारती' हिन्दी में हिन्दुओं के लिये बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हाली के कौमी 'मुसद्दस' की कमी भी—एक सास्कृतिक माँग की—पूर्ति है, जैसा कि इसकी रचना का कारण बताते हुए स्वय मैथिलीशरणजी भूमिका में लिखते हैं :—

१—हर तरफ़। २—स्वर्ग के उद्यान के समान। ३—हरे-भरे, हँसते हुए। ४—पत्ते और फल।

"बड़े खेद की बात है कि हम लोगों के लिये हिन्दी में अभी तक इस ढंग की कोई पुस्तक नहीं लिखी गयी जिसमें हमारी प्राचीन उन्नति, अर्वाचीन अवनति का वर्णन भी हो और भविष्यत् के लिये प्रोत्साहन भी।...देशवत्सल सज्जनों को यह त्रुटि बहुत रही है। ऐसे महानुभावों में श्रीमान् राजा रामपाल सिंहजी सी० आई० ई० महोदय हैं।

"कोई वर्ष हुए मैंने 'पूर्व दर्शन' नाम की एक तुकबन्दी लिखी थी। उस समय चित्त में आया था कि हो सका तो कभी इसे पल्लवित करने की चेष्टा भी करूँगा। इसके कुछ ही दिनों बाद उक्त राजा साहब का एक कृपापत्र मुझे मिला जिसमें श्रीमान् ने मौलाना हाली के 'मुसद्दस' को लक्ष्य करके एक कविता-पुस्तक हिन्दुओं के लिये लिखने का मुझसे अनुग्रह-पूर्वक अनुरोध किया। .."

'भारत-भारती' सन् १९१२ में प्रकाशित हुई।

वास्तव में 'भारत भारती' की प्रेरक शक्तियों के पीछे एक युग विशेष की संस्कृतियाँ थीं। उस समय की परिस्थितियों का जन्म उस आन्दोलन से हुआ था जिसको दो-तीन पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। जब एक ओर राजा राममोहन राय (१७७२–१८३३ ई०), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०–९१), केशवचन्द्र सेन (१८३८–८४), आदि समाज-सुधार-सम्बन्धी प्रचार-कार्य कर रहे थे, और दूसरी ओर बगाल, महाराष्ट्र पजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में रामकृष्ण परमहंस (१८३६–८६) स्वामी विवेकानन्द (१८६२–१९०२), स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४–८३) और स्वामी रामतीर्थ का धार्मिक आध्यात्मिक पुनरुत्थानवादी प्रचार बढ रहा था।"

अस्तु, उन्नीसवीं शताब्दी में प्रचलित धर्म-सम्बन्धी बहुत से नये दृष्टिकोण मैथिलीशरणजी के समय तक हिन्दू जनता के संस्कार में घुल मिल गये थे। इस प्रकार 'भारत भारती' के प्रणेता को जिस युग का वातावरण मिला, वह था पजाब और पश्चिमी युक्तप्रान्त में आर्य समाजी प्रचार कार्य के उत्तरार्द्ध का। हिन्दुओं में चारों ओर 'वैदिक युग' और 'आर्य सभ्यता' की गूँज सुनायी पड़ती थी।

बहुत-कुछ मनुस्मृति का 'सनातनी' पक्ष भी लिए हुए एक प्रगतिशील समन्वय के रूप में 'भारत भारती' उसी की भावुक प्रतिध्वनि है।

कवि की आदर्श समाज-कल्पना का आधार रामायण महाभारत कालीन चातुर्वर्ण्याश्रम है।

हिन्दू समाज के चारों वर्णों में जो दोष पैदा हो गये हैं, कवि चाहता है वे दूर हो जायँ, पर वह यह भी चाहता है कि वह व्यवस्था आज की परिस्थितियों के अनुकूल बनकर अपनी पूर्व मर्यादा को अक्षुण्ण रखे।

'मुसद्दस' और 'भारत भारती' दोनों अपने वर्ण्य विषय और उद्देश्य में समान हैं; पर भिन्न 'देश-काल' के प्रभाव से उनके निहित दृष्टिकोण और भावनाओं के रूप में कुछ अन्तर आ गया है—मौलिक अन्तर।

हिन्दी में हाली का समानान्तर साहित्यकार वास्तव में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र है। दोनों की प्रेरक शक्तियाँ वे दो उपरोक्त सुधारवादी सांस्कृतिक आन्दोलन हैं, जिनके प्रतीक रूप राजा राममोहन राय और (उनसे लगभग ३० वर्ष बाद) सर सैयद अहमद माने जाते हैं। हिन्दुओं और मुसलमानों की राजनीतिक-सांस्कृति नव-चेतना में यह तीस पैंतीस वर्ष का अन्तर हमारी बहुत-सी राष्ट्रीय, साम्प्रदायिक और सांस्कृतिक समस्याओं के मूल में है।

हाली और भारतेन्दुजी के समय में सामाजिक सुधार और राष्ट्रीय जागरण की नव-युगीन चेतना, पंजाब और युक्तप्रान्त में अपने तीव्रतम रूप में उभरी हुई थी। इन दोनो महान् साहित्यकारों का गद्य और पद्य उस युग की पूर्ण स्फूर्ति लिए हुए है। उस युग की विचारधारा में अपनी भाषाओं के ये दोनों प्रथम और अग्रणी खेवा हैं। एक ओर हाली का 'मुसद्दस' और उनकी मसनवियाँ, दूसरी ओर भारतेन्दुजी के नाटक सहज ही देश में उठती नयी जातीय राष्ट्रीयता को व्यक्त कर रहे थे।

मध्यवर्ग की सामाजिक शक्ति का वह उठता युवा-काल था। हाली और भारतेन्दु की भावनाओं में उसे पहले-पहल अपने अस्तित्व का बोध और अनुभव हुआ।

मैथिलीशरणजी के वयस्क होने तक यह अनुभव संस्कार-रूप में परिणत हो चुका था और नयी धार्मिक-सांस्कृतिक मान्यताएँ बहुत-कुछ स्थिर हो चुकी थीं।

'मुसद्दस' की तो पहले-पहल बाज़ मुस्लिम हल्कों में कटु उपेक्षा भी की गयी थी, पर 'भारत-भारती' की—'मुसद्दस' के एक वृहद्, सुपरिवर्द्धित,

'आर्य' संस्करण की—तो, अब शुरू से ही माँग थी। एक प्रतिभाशाली उत्साही युवक कवि द्वारा उसकी पूर्ति सहज ही सम्भव थी, और मैथिलीशरणजी ने सत्ताइस वर्ष की आयु में सुचारु रूप से वह कार्य सम्पन्न कर दिया, और प्रकाशित होते ही उसकी चारों ओर धूम हो गयी।...

वस्तुतः दोनों कवियों के निहित दृष्टिकोण और भावनाओं के रूप में हम उनके समय का प्रभाव स्पष्ट देखते हैं।

'मुसद्दस' में आरम्भ से अन्त तक हाली की सारी चिन्ता वर्त्तमान के ही विषय में है। भूतकालीन 'सच्चरित्र' 'विद्या' और 'वैभव' का उत्कर्ष पग पग पर वर्त्तमान की अधोगति की ओर संकेत करता है। मुस्लिम जाति को स्पष्ट शब्दों में सीधे-सीधे उपदेश आरम्भ हो जाते हैं। 'मुसद्दस' के ऐतिहासिक अंश को शिक्षाप्रद बनाने का, हर उदाहरण में वर्त्तमान के लिए उसकी उपयोगिता ढूँढ़ने का दृष्टिकोण बन्द-बन्द में, पद-पद में अपना प्रमाण देता चलता है। शिक्षा, उद्योग और पुरुषार्थ के आदर्शों पर ज़ोर देकर—जाति को उठाकर, किस प्रकार उसके देश की अन्य प्रगतिशील जातियों के समकक्ष लाया जाय मात्र यही हाली की चिन्ता थी। यह चिन्ता हाली के पूरे युग की चिन्ता थी। उस युग की जो नवीन शिक्षा-आन्दोलन का युग था, बड़ी सांस्कृतिक हलचलों का युग था। हाली का पाठक उस चिन्ता से स्वयं भर उठता है।

सन् १८७९ में हाली के समय में अँग्रेज़ों के प्रति लोगों के हृदय में उतनी कटुता नहीं थी। विक्टोरिया शासन-काल में हाली देखते हैं कि 'राजा से परजा तक सब सुखी हैं।' अपने 'मुसद्दस' में वह मुसलमानों से कहते हैं—

हुकूमत ने आज़ादियाँ तुमको दी हैं,
तरक्की की राहें सरासर खुली हैं,...
नहीं बन्द रस्ता किसी कारवाँ का"

—पृष्ठ ८० [ताज संस्करण]

लेकिन गुप्तजी के काल में राष्ट्रीय आन्दोलन काफ़ी विकसित हो चुका था। बंग-भंग और स्वदेशी आन्दोलन के रूप में साम्राज्यवाद विरोधी भावना तीव्रतर होती जा रही थी। पर मैथिलीशरणजी ने लगभग हाली के ही स्वर में स्वर मिलाकर जब कहा कि :—

देते हुए भी कर्म-फल हम पर हुई उसकी दया।
भेजा प्रसिद्ध उदार जिसने ब्रिटिश राज्य यहाँ नया॥

—भा० भा०, पृष्ठ ८०

तो वह अपने समय की प्रगति से कुछ पीछे पड़ गये-से जान पड़ते हैं।

बार-बार और ध्यान से 'भारत-भारती' को पढ़ने पर जो भाव मुख्य रूप से हृदय पर जमता है, वह अपने प्राचीन गौरव का है—इसके बावजूद कि इस काव्य के तीन खण्ड हैं—अतीत, वर्त्तमान और भविष्यत्। फिर भी सम्पूर्ण का भाव लेकर देखें तो भविष्यत् मानो अतीत का ही प्रति दर्पण है, और वर्त्तमान उस अतीत का न होना, जिनकी भविष्य के लिये आकांक्षा। मैं अपना यह मत स्पष्ट करना चाहता हूँ कि कवि की मूल भावनाएँ अतीत से जितनी बँधी हुई हैं, उतनी वर्त्तमान से नहीं, यद्यपि 'भारत-भारती' में वर्त्तमान खण्ड, विषय की दृष्टि से हिन्दी काव्य में अभी तक आप अपनी मिसाल है। फिर भी, अतीत की समाज व्यवस्था कवि को इस हद तक मान्य है कि वह परोक्ष से साधु, सन्त, महन्त, तीर्थ-गुरु, पण्डा आदि का औपयोगिक महत्व ही नहीं स्वीकार करता, बल्कि उस चतुर्वर्ण व्यवस्था में, (मसलन) शूद्रों को भी उसी प्रकार अपना सेवा-धर्म पालन करने के उपदेश देता है (पृष्ठ १६९ ७०), जैसे कि अपने-अपने वर्णों की मर्यादा रखते हुए कर्म करने का उपदेश यथाक्रम उसने ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को दिया है। ऐसा सामाजिक दृष्टिकोण उचित था या नहीं—यह प्रश्न यहाँ नहीं उठाना है, केवल जिस चीज़ को यहाँ स्पष्ट करना चाहता हूँ, वह यह है कि यह दृष्टिकोण, मूलतः सुधारवादी भावनाओं में रोमाटिक रूप से अतीतानुरागी था।

हम देखते हैं कि 'भारत-भारती' में कवि की भावुकता और भावनाओं की आधार भूमि आगे की समस्त कृतियों के लिये सीमित हो गयी है। 'भारत-भारती' कवि के भविष्य के लिये एक स्पष्ट दिशा इंगित कर देती है। मानो अतीत में ही हमारे स्वर्णादर्श हैं, अतीत में ही 'राम राज्य' है—स्वर्गिक कार्य-कलापों का स्वप्न-लोक, वह 'कर्म-भूमि,' अयोध्या नहीं, साकेत है। हमारे उसी अतीत के स्वप्न, जो इन आगामी रचनाओं में कृतिबद्ध होते चले गये हैं—

'जयद्रथ वध,' 'हिन्दू,' 'गुरुकुल,' 'साकेत,' 'यशोधरा,' 'द्वापर,' 'सिद्धराज' .. । चौबीस वर्ष बाद भी कवि कहता है—

मुझ पर चढने से रहा, राम ! दूसरा रग ।

—'द्वापर'

समय अपने साथ बहुत-से नये अनुभव लाया, सब अन्ततोगत्वा उसी अतीत गौरव की महत् भावना में मिल गये । राष्ट्रीयता की नयी चेतना, सविनय अवज्ञा आन्दोलन की भावना, उसके नैतिक राजनीतिक आधार, सत्य और अहिंसा, चर्खा और खादी—गाँधीवाद के ये सभी आदर्श कवि ने अपनाये । यहाँ तक कि समय के प्रभाव से 'रहस्यवाद' की छाप भी कवि के भक्त हृदय ने किंचित ग्रहण की , पर इन सबको उसने अपनी उसी पुरातन मुखापेक्षी जातीय मूलक-सुधारवादी राष्ट्रीयता के रग में रँग लिया, और उस रँग में वयः क्रम के साथ भक्ति की व्यजना और रूढ होती गयी ।

ऊपर हम देख चुके हैं कि एक ओर 'भारत भारती' का कवि ब्रिटिश शासन सम्बन्धी विक्टोरिया युगीन धारणाओं को नहीं छोड़ सका था, और दूसरी ओर उसको चतुर्वर्ण व्यवस्था के प्रति रूढिवादी मोह था, जब कि 'भारत भारती' का युग इन प्रवृत्तियों को पीछे छोड़ता जा रहा था ।

'भारत भारती' के कवि ने, फिर भी, अपने युग की कई प्रवृत्तियों को एक सबल और अनुप्रेरक रूप दिया । यही उसकी सबसे बडी विशेषता थी, और इसी कारण वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ । जब कवि कहता है—

शासन किसी पर-जाति का चाहे विवेक-विशिष्ट हो,
सम्भव नहीं है, किन्तु जो सर्वांश में वह इष्ट हो ;
यह सत्य है, तो भी ब्रिटिश शासन हमें सम्मान्य है,
वह सुव्यवस्थित है, तथा आशा प्रपूर्ण वदान्य है ।

तो इस उक्ति में स्पष्ट ही दासता का विरोध भी, यद्यपि वह दूसरी भावनाओं से सीमित है, हम पाते हैं ।

'भारत भारती' के कवि ने राष्ट्र और उसकी परम्पराओं का दिग्दर्शन कराया, और उसे प्रेम करने के लिये हिन्दी ससार को अनुप्रेरित किया । यह देश-प्रेम की सबसे पहली सीढी है ।

भूलोक का गौरव, प्रकृति का पुण्य लीलास्थल कहाँ ?
फैला मनोहर गिरि हिमालय और गंगा जल जहाँ ?
सम्पूर्ण देशों से अधिक किस देश का उत्कर्ष है ?
उसका कि जो ऋषिभूमि है, वह कौन ? भारतवर्ष है।

इन पंक्तियों को पढ़कर किस भारतीय का हृदय अभिमान से न भर उठेगा ? 'भारत-भारती' का कवि इस देश की पीड़ित और दुखी जनता से प्रेम करता है। किसको न याद होंगे कृषकों के जीवन पर वे कितने ही पद—

बरसा रहा है रवि अनल, भूतल तवा-सा जल रहा !

आदि; जहाँ रह रहकर बार-बार यह मार्मिक भाव प्रश्न बनकर उठता है—

किस लोभ से वे आज भी लेते नहीं विश्राम हैं ?

इस युवक कवि ने नवीन भारत को अपनी आँखों से देश का वास्तविक चित्र दिखाया।

दुर्भिक्ष मानो देह धर के घूमता सब ओर है,
हा-अन्न ! हा ! हा ! अन्न का रव गूँजता सब ओर है,
आते प्रभञ्जन से यथा तप मध्य सूखे पत्र हैं,
लाखों यहाँ भूखे भिखारी घूमते सर्वत्र हैं।

जनता ऐसी विषण्ण परिस्थिति में है, मगर सामर्थ्यशील धनाढ्य वर्ग देश की उन्नति में योग देने के बजाय ऐशो-आराम में डूबा हुआ है। कवि का आक्रोश उभर उठता है। वह व्यंग से कहता है, बल्कि उसी वर्ग के एक व्यक्ति के मुख से कहलाता है—

तुम मर रहे हो तो मरो, तुमसे हमें क्या काम है ?
हमको किसी की क्या पड़ी है, काम है, धन धाम है।
तुम कौन हो जिनके लिये हमको यहाँ अवकाश हो,
सुख भोगते हैं हम, हमें क्या जो किसी का नाश हो !

भारत के इस वर्ग को इंगित कर कवि ने देश में गुणों की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा—

है चाटुकारी में चतुरता, कुशलता छल छद्म में,
पाण्डित्य पर निन्दा-विषय में, शूरता है सद्म में,

कारीगरी है शेष अब साक्षी बनाने में यहाँ।
है सत्य या विश्वास केवल कसम खाने में यहाँ।
निज अर्थ-साधन में हमारी रह गयी अब भक्ति है,
है कर्म बस दासत्व में, बस स्वर्ण में ही शक्ति है।
पोशाक में शुचिता रही, बस, क्रोध में ही कान्ति है...

—इत्यादि

'भारत भारती' के इस व्यंग की चोट आज भी अपना असर रखती है। इनको पढकर क्या उस समय का युवक विक्षुब्ध न हो उठा होगा! उसी युवक को कवि ने ललकार कर कहा—

अब भी समय है जागने का, देख आँखें खोल के।
सब जग जगाता है तुझे जगकर स्वयं जय बोल के!

और फिर इस जाग्रत जन-समाज को वह प्रगति का मार्ग दिखाता है। उसे स्वयं वर्ण व्यवस्था की प्राचीन रूढियाँ मान्य हैं, लेकिन जब वह कहता है—

विपरीत विश्व-प्रवाह के निज नाव जा सकती नहीं,
अब पूर्व की बातें सभी प्रस्ताव पा सकती नहीं।

तो मानो वह अपने युग के उठते हुए स्वार्थचेता मध्य वर्ग की आवाज़ को प्रतिध्वनित कर रहा है। वह युग, कवि के शब्दों में, अपनी भावनाओं और धारणाओं को इस प्रकार साकार होते देख रहा था—

व्यवसाय अपने व्यर्थ हैं, अब नव्य यन्त्रों के बिना,
परतन्त्र हैं हम सब कहीं अब भव्य यन्त्रों के बिना,
कल के हलों के सामने अब पूर्व का हल व्यर्थ है,
उस बाष्प-विद्युद्वेग-सम्मुख देह का बल व्यर्थ है।
प्राचीन हों कि नवीन, छोड़ो रूढ़ियाँ जो हों बुरी,
बनकर विवेकी तुम दिखाओ हंस जैसी चातुरी,
सर्वत्र एक अपूर्व युगका हो रहा सचार है,
देखो, दिनोदिन बढ रहा विज्ञान का विस्तार है।

और आज तो 'भारत-भारती' की यह एक बहुत बडी विशेषता मालूम होगी—जो कि अब से तीस वर्ष पूर्व के साहित्यिकों का एक समान्य गुण

अथवा संस्कृति जन्य स्वभाव था—कि इसमें जातिगत कटुता अथवा संकुचित दृष्टिकोण कवि ने नहीं आने दिया। यह सच है कि दो एक स्थलों पर कवि का भाव कतिपय संकुचित सा हो गया है। जैसे, एक स्थान पर कवि को शोक प्रकट करना पड़ा कि 'हाय वैदिक धर्म-रवि था बौद्ध-घन से घिर गया।' और फिर इस बात पर सन्तोष कि 'भगवान शंकर ने भगा दी बौद्ध भ्रान्ति भयावही' पर ये पंक्तियाँ भी देखिये—

हिंसा बढ़ी ऐसी कि मानव दानवों से बढ़ गये,
तब शाक्य मुनि के रूप में प्रकटी दयामय की दया।

इसी प्रकार जहाँ 'यवनों' के अत्याचार को भी भुलाया नहीं जा सका है, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्वीकार किया है—

कम कीर्ति अकबर की नहीं सद्शासकों की ख्याति में,
शासक न उसके सम सभी होंगे किसी भी जाति में,
हो हिन्दुओं के अर्थ हिन्दू, यवन यवनों के लिए...

आगे चलकर वे अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं और हिन्दू मुस्लिम एकता पर इस तरह ज़ोर देते हैं—

हिन्दू तथा तुम सब चढ़े हो एक नौका पर यहाँ
जो एक का होगा अहित, तो दूसरे का हित कहाँ!

चरित्र-निर्माण और सांस्कृतिक शिक्षा के लिये कविता का, एक अस्त्र की भाँति, कैसे उपयोग किया जा सकता है, 'भारत भारती' सचमुच उसका मार्मिक उत्तर है।

× × ×

आज फिर अनेक समस्याओं से गुँथने, उन्हें सुलझाने का संघर्षमय युग आ उपस्थित हुआ है; अब जातीय गौरव गाथाएँ रण-भेरियों-सी बन गयी हैं। सर्व जन साधारण, मज़दूर, किसान, विद्यार्थी, स्त्री-वर्ग नेता, विचारक, लेखक, कलाकार—सभी समाजों, समूहों, धर्मों, जातियों, वर्गों के लोग, सभी अपने-अपने दृष्टिकोण से आज की अपनी अवस्था को समझने और समझाने में

दिलचस्पी ले रहे हैं। अस्तु, आज, दूसरे विश्व व्यापी महाभारत के बाद—जब सयुक्त लोक-शक्ति फासिज़्म को, अन्तिम नहीं, तो निर्णयात्मक रूप से अवश्य ही हरा चुकी है, जब 'राष्ट्रीयता' की विभिन्न परिभाषाएँ देश-विदेश में प्रचलित हैं; और 'स्वाधीनता,' 'देश,' 'जाति,' 'धर्म,' 'वर्ग,' 'शासन,' 'जन-अधिकार,' आदि के वास्तविक रूप और उनकी यथार्थ सीमाएँ अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के अनुसार रोज़-रोज़ निर्धारित और नियोजित होती हैं, और इस घनीभूत विषमता के विरोध में सभी देशों के दलित और अपहृत वर्ग सगठित मोर्चा बनाने लगे हैं, ऐसे समय में—हमें क्या कुछ आवश्यकता नहीं है अपनी स्वस्थ परम्पराओं को उनके सच्चे रूप में समझने की, उनसे शक्ति, स्वास्थ्य और प्रेरणा लेने की, अपने भविष्य-निर्माण में उनसे आवश्यक सहायता और योग प्राप्त करने की? हमारे समाज की स्वस्थ-भावुक आत्मा को उसकी भारी आवश्यकता है। हमारे 'आर्य,' 'मुस्लिम,' 'सिख,' 'पारसी' अथवा 'ईसाई' समाज को ही नहीं; बल्कि इनसे मिलकर बने पूरे भारतीय समाज को भी उसकी आवश्यकता है। ताकि देश के सभी लोग एक-दूसरे की सामाजिक-सास्कृतिक-राजनीतिक परम्परा के प्रभावों से पोषित-अनुप्राणित अपनी परम्परा को, सम्मिलित सत्य के आधार पर, आज की आवश्यकताओं के लिए, अपनी भावना में सजीव कर सकें। उस परम्परा का यथार्थ रूप हरप्पा और महजोदड़ो से भी पूर्व से नाना रूपों में व्याप्त, आदि 'मनु' के समान, हमारे देश और हमारे प्राणों में अमर है। क्या है आज वह, उसकी प्रेरणाओं का गुम्फित इतिहास क्या है—जनता समझना चाहती है, उसका सम्पूर्ण सच्चा राग अपने प्राणों में भर लेना चाहती है। आज तो मनुष्य मात्र के लिए उदार, विशाल सहानुभूति की शक्ति जिसके गम्भीर हृदय को सस्कार रूप में मिली होगी, वही केवल प्रखर सत्य का अन्वेषण, साहित्यिक—वह चाहे कवि हो या कथाकार—अपनी निर्भय वाणी में देश की अनेक प्राचीन अर्वाचीन जातियों तथा भाषाओं की 'नाना-पुराण निगमागम सम्मत' गाथाओं और इतिहासों का एक समन्वयित राग हमारी आधुनिक परिस्थितियों से लड़ती हुई भावनाओं में प्रवाहित कर सकेगा। यह असम्भव नहीं है। उसी परिमाण में असम्भव नहीं है, जिस परिमाण में हमारा विश्वास अपने देश की शक्तियों में अजेय और अक्षुण्ण है।

सम्प्रति ऐसी पृष्ठभूमि में 'मुसद्दस' और 'भारत-भारती' का गम्भीर अध्ययन न केवल खड़ी बोली के नये साहित्यिक के लिए, बल्कि हिन्दी और उर्दू के साधारण पाठक के लिए भी, सर्व—विशेषकर सांस्कृतिक दृष्टिकोण से, उपयोगी और महत्वपूर्ण है।

'नया साहित्य'
अंक ४–५ (१९४६)

———

राष्ट्रीय वसन्त की प्रथम कोकिला *

आज़ादी की पहली किश्त में यह हमारी पहली बहार थी, अगर्चे खून और काँटों से लिपटी हुई, मातमपोश। और उसमें एक आज़ाद तराने गाने वाला कवि था, जिसका बाना ही शुरू से शहीदों का था। और वह अपने पूज्य शहीद नायक के फूल विसर्जन करते ही, खुद भी उसके पीछे-पीछे एक खुशबू की तरह चला गया।

× × ×

ज़माने की धारा में बहते हुए रंगारंग दृश्यों में कुछ फूल ऐसे भी होते हैं, जिन्हें हम अपने दिल में सदाबहार की तरह खिला हुआ देखते हैं—यह सच है कि हमारा दिल भी कभी एक जगह कायम नहीं रहता। कुछ यादगारें किस क़दर ताज़गी अपने अन्दर लिये हुए होती हैं। उनकी झाँकियाँ जैसे वसन्त का पहला दिन हो—वैसी ही नर्मी और मुस्कराहटें लिये हुए, जो एक हलचल और मस्ती-सी हमारी आत्मा को दान कर जाती हैं, (और कभी-कभी अपनी याद के आँचल में बँधा हुई एक उदासी भी।)

'मुकुल' और 'त्रिधारा' (उसके अन्दर की बीच वाली धारा) के कवि और 'सभा के खेल' के कलाकार की मैं याद कर रहा हूँ। उनके किलोल करते हुए छन्द—और उमड़ते-घुमड़ते और गरजते-तरजते हुए भाव—और मीठी उमगों की चुटकियाँ—जीवन को आँकती ही नहीं हैं। दिलों की नब्ज ही नहीं टटोलती, बल्कि अन्दर से उस धधकते हुए ससार को उघाड़कर दिखाती हैं।

फिर जो चीज़ इस बेदर्दी से, इस हद तक, हमारी अपनी हो जाय, उसे पाठक का मन आप-ही-आप क्यों न अपनी कहानी बनाए। ऐसी कहानी,

---

* श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की आकस्मिक मृत्यु, मोटर की दुर्घटना से १९४८ की वसन्त पचमी की शाम को, जबलपुर-नागपुर रोड पर, बापूजी के अस्थि-प्रवाह के तीन दिन बाद।

जिसकी एक-एक बात आँखों के सामने हू-ब-हू उभर कर नाच उठती है,—क्या राजनीति के मंच पर क्या गृहस्थों के हँसते किलकते आँगन में, क्या 'छोटे' 'बड़े' और 'मुन्ना' की पतंग और खेल-खिलौनों की दुनिया में। अपना दुख-दर्द, रोना-गाना, हँसी-खुशी, अपनी बड़ी-से-बड़ी उम्मीदें और गहरी-से-गहरी प्रतिज्ञाएँ इस सीधे अपने हृदय की बोली में, अपने दिल की लहज़ में, सुनते हैं—आज भी, उसी तरह,—और उन्हें अपनी अन्यतम पूँजी मान कलेजे से लगा रखते हैं।

—ये गूँजें क्यों हमारे मन में इस तरह बस गयी हैं?

क्योंकि इनमें छल नहीं है, बनावट नहीं है, दिखावा नहीं है, न प्रशंसा की माँग है। सिर्फ उमंग है, और दर्द है, एक गहरी सम्वेदना है, ज़िन्दगी का असली बाँकपन है। उसमें अगर कला है तो यही सब है। कला का तो मूल और सूद जो कुछ भी है, केवल उधार लिया गया है, अपना और समाज की भरी-पूरी ज़िन्दगी से। वर्ना 'कला' उसमें नहीं है।

× × ×

सुभद्राकुमारी चौहान की कविताओं की वह भरी-पूरी ज़िन्दगी सन् उन्नीस-बीस और सन् तीस-इकतीस के उन्मत्त राष्ट्रीय उठान की ज़िन्दगी है। उसके बाद की, या आज की नहीं। उसके बाद तो उस ज़िन्दगी के मिले-जुले सपने टूटते ही गये। वह जातियों का सामान्य मेल-मेल और आदर्शों की एकता खत्म ही होती गयी। वर्गों के समान हितों की लड़ाई का मिला जुला आधार पक्का तो शुरू में भी कब था, सो वह आगे और भी कमज़ोर होता गया। उस खिलाफतवाले पहले सत्याग्रह आन्दोलन में हमारे इतिहास और संस्कृति की सभी धाराएँ मिलकर एक प्रचण्ड शक्ति का वेग बन गयी थीं। मगर वाह, उस अपराजेयता की बँधी हुई मुट्ठी को साम्राज्यवाद की बेमिसाल कूटनीति ने किस तरह मसल मसलकर धीरे-धीरे ढीला किया है—तब से आज तक का इतिहास यही है—उसको आज कुछ नेताओं की ज़खमी उँगलियों की दुखती नसें और जोड़-बन्द ही जानते हैं—कलाई से पंजा जैसे अलग हो गया है, और उँगलियाँ आपस में नहीं मिलतीं। सब शक्तियाँ अलग-अलग; और कैसी अलग अलग!

आज जो वातावरण हमारे चारों तरफ़ है, उसे नैतिकता का पतझड़ कहिये, चाहे नागरिक सत्ता का शिशिर। घोर पाखण्ड की झझाओं से झकझोरा हुआ जीवन है। हर तरफ ऊपरी तबका नीचेवालों की गर्दन पर सवार है, और अपने पूँजी के हित उस पर ढोकर, उसे पसलियों के बल चलाना चाहता है। हुकूमत, व्यापार, नौकरी और धंधा—सब पर दाँव लगा हुआ है। बाहरवालों का भी, और घरवालों का भी। बल्कि मिलकर।

× × × ×

सन् बीस के हिन्दुस्तान को अपनी आँखों के सामने ज़रा लाइये। फिर भी जीवन में सादगी थी, और अमल में सचाई—एक दूसरे का विश्वास। हाँ, मुट्ठी भर 'अमन सभा' वाले भी थे, तब; और समाज में सरकारी सफेदपोशों की भी कुछ अहमियत थी। महन्तों को तब भी चढावा चढता था, और रिश्वतखोरी भी लोग लेना-देना जानते ही थे। अकाल भी पड़ते थे, और सामन्ती रईसों के लिये पतुरियों का बाजार भी था ही। मगर तब होली या मोहर्रम के आते ही, या कहीं ज़ोर का हल्ला होते ही, मध्य वर्ग का दिल धुक धुक नहीं करने लगता था, कि देखो क्या हो। हफ्तों, बल्कि महीनों से—किस शौक़ के साथ त्यौहारों का इन्तज़ार रहता था, हिन्दू मुसलमान सबको। आखिर मेला तो मेला, जिसमें सब शरीक, और बरस-बरस के त्यौहार, सभी की मुरादों के दिन। फिर क्यों न हिल मिलकर अच्छी तरह सारे पर्व मनाएँ जायँ : विजयादशमी...राखी.. जन्माष्टमी की झाँकियाँ.. मोहर्रम के ताजिये। और फिर उन दिनों के काँग्रेस के जलसे, जिनमें पहली बार, सचमुच 'जागा देश हमारा!' समझा भारत। देश का पहला सच्चा भरा-पूरा राष्ट्रीय उठान, जैसे अल्हड़ जवानी में पहला कदम कोई रखे!

सारे जहान की ताकत इन्सान के इरादों में उस वक्त होती है—पृथ्वी का सारा अटल विश्वास उसकी आवाज़ में बोलता है। और अपने सच्चे जन्म सिद्ध अधिकारों के लिये जब ऐसी आवाज़ें एक होकर उठती हैं तब कौमों की किस्मत का फैसला कर देती हैं। अमल अनुभव की तीसरी आँख खोल देता है, जिसकी प्रखर रोशनी में अपनी कमज़ोरियाँ और बैरी-दुश्मन के मनसूबे सब जल जाते

हैं। बशर्ते कि वह आँख खुली रहे—अमल के रास्ते की तरह, अबाध जन-शक्ति की तरह। बन्द न हो। क्योंकि अन्त में विजय तो उसी की है।

इसलिये उन आवाज़ों के साथ मिलकर अगर कोई गायेगा, तो जन-गान की बड़ी मजबूत धारा उसके स्वर में गूँजेगी। जनता के सोए हुए युगों की वीर शक्तियाँ, झाँसी की रानी की प्रतिमा की तरह, उसके शब्दों में जाग उठेंगी, और उसके पदों का तेवर ही कुछ और होगा—

पन्द्रह कोटि असहयोगिनियाँ
दहला दें ब्रह्माण्ड, सखी!
भारत-लक्ष्मी लौटाने को
रच दें लङ्काकाण्ड, सखी!

अपनी भाषा के प्रति ऐसे कवि के उत्साह को उसकी साधना की गरिमा को, व्यक्त नहीं किया जा सकता—

सुनूँगी माता की आवाज़
रहूँगी मरने को तैयार
कभी भी उस वेदी पर, देव!
न होने दूँगी अत्याचार!...

—मातृ-मन्दिर में [२]

किस दृढ़ विश्वास के साथ ऐसा कवि अपनी मा-भारती को संबोधन करता है—

तू होगी आधार देश की पार्लमेण्ट बन जाने में,
तू होगी सुख सार देश के उजड़े क्षेत्र बसाने में,
तू होगी व्यवहार देश के बिछुड़े हृदय मिलाने में,
तू होगी अधिकार देश भर का स्वातंत्र्य दिलाने में!

'मातृ-मन्दिर' में ही फिर, यह आह्वान है—

ज़रा वे लेखनियाँ उठ पड़ें, मातृ भू को गौरव से मढ़ें
करोड़ों क्रान्तिकारिणी मूर्ति पलों में निर्भयता से गढ़ें

हमारी प्रतिभा साथी रहे, देश के चरणों पर ही चढे
अहिंसा के भावों में मस्त, आज यह विश्व जीतना पड़े।

ऐसी भाषा के छन्द निश्चय ही प्रचलित रुचि के होंगे, जो लोक-भावना के गुणों से पुष्ट होंगे—गम्भीर, तो जैसे कोई शपथ ले रहा है, उद्दाम और मस्त, तो जैसे झमाझम बारिश हो रही है, सरल और सरस, तो जैसे हवाएँ मल्हार गा रही हैं। जो बातें होंगी, वह ऐसी, गोया पहले से ही हमारे दिल में थीं।

× × × ×

सन् तीस के बाद विशेष रूप से छाया, निराशा और अवसाद और अभाव की कविता हिन्दी में आयी। महादेवी वर्मा, भगवती चरण, नरेन्द्र आदि को लोग अधिक पढने लगे, और 'एक भारतीय आत्मा' 'नवीन' आदि के स्वर दब गये। एक बहुत आकर्षक और आत्म-विमोहक पलायन के रहस्यवादी गीत आगे दस बरस तक लिखे गये, जो पूर्ण रूप से एक विशेष श्रेणी का ही मनोरंजन कर सकने में समर्थ थे। मध्यवर्ग की आत्मकुण्ठा ने महादेवी, बच्चन, नरेन्द्र आदि को अपनाया। अधिक आत्मस्थ और संस्कृत रुचि के सीमित हलकों ने महादेवी के साथ पन्त और निराला में अपनी 'मधुर विधुर' भावनाओं का आन्तरिक कवि पाया—

बैठ लें कुछ देर,
आओ, एक पथ के पथिक से प्रिय
अन्त और अनन्त के
तम-गहन जीवन घेर।

(निराला)

अन्दर-ही अन्दर घुटती व्यथा से क्षुब्ध जीवन अपने मर्म और जलन को भुलाने के लिये 'हीरक से प्यालों' को 'चूर कर' 'प्याला' बनाता और उसमें अपने 'प्राणों का आसव' ढालता है। मन की इस परिस्थिति को इकबाल ने भी व्यक्त किया—

लुत्फ़ मरने में है बाकी, न मज़ा जीने में,
कुछ अगर है तो यही ख़ूने-जिगर पीने में।

और अपने बारे में कहा कि—

एक बुलबुल है कि है महवे-तरन्नुम अब तक,
उसके सीने में है मौजों का तलातुम अब तक।

'मुकुल' के अन्तिम पृष्ठों के लगभग एक कविता शुरू होती है—

देव, वे कुजें उजड़ी पड़ीं
और वह कोकिल उड़ ही गयी।

मगर 'त्रिधारा' में 'मुकुल'-कवि का चित्रण अपने लिये किस सुन्दर विश्वास और निष्ठा के साथ होता है—

मैं जिधर निकल जाती हूँ मधुमास उतर आता है,
नीरस जन के जीवन में रस घोल-घोल जाता है।

× × ×

जिस विशाल प्रांगण के हृदय से ये सातों स्वर निकलते है, अगर हम उसकी बनावट से वाकिफ़ हैं, और उसके परदों को अलग-अलग करके उन्हें फिर जोड़ सकते हैं—यानी उसके मूल आधार को समझा सकते हैं—तब यह मुमकिन हो सकता है कि उस महान जन-मन-राग के सुरों की हमें इस हद तक सिद्धि प्राप्त हो जाय, कि अगर वह उदास, चुप और गम में डूबा हुआ भी हो, उस वक्त भी हम अपनी लय से उसके मन की घुंडी खोल सकें—जन-अर्जुन के हाथ में सच्चे ज्ञान जन्य उत्साह का धनुष बाण दे सकें, जहाँ अंधकार में वह आत्म-बलिदान करने के लिये हताश जूझ रहा हो, वहाँ असल हकीकत की रोशनी में उसे विजय के मैदानों में युग-जीतो कर सकें। राग का अगर आत्मा से सम्बन्ध है, और आत्मा को सत्य से प्रेरणा मिलती है, तो हम उस प्रेरणा से गहराई में छिपे हुए उत्सुक भावों को जगाकर अपनी कुण्ठित कला में वह चेतना पैदा कर सकते हैं, जिसे हम वसन्त के सतरंगी जीवन में देखते हैं। तब हम वसन्त को दोनों ओर से घेरनेवाले कठोर शिशिर और उदास पतझड़ की भी हकीकत अच्छी तरह खोलकर बयान कर सकते हैं। वर्ना दो दिन की बहार और चार दिन की चाँदनी के ही तितली और जुगनू के गीत हम गा सकेंगे, उस अमर ऋतुराज के गीत नहीं, जिसका नाम ज़िन्दगी है, जो उन षटऋतुओं

की जयमाला पहने हुए हैं, उनकी क्रूर हँसी और झकारों की ज़ंजीर में जकड़ा हुआ नहीं है।

× × ×

अभी उस दिन हमारे आज़ाद बहार की पहली शाम नहीं हुई थी कि श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान ने अचानक हमसे विदा ली। हाँ, उसी दिन,—क्या इसीलिये तो नहीं कि हम उनके असली स्वरूप को याद रखें, कि वह हमारे भावना के भारत की 'पहली वसन्त पंचमी—भारतीय आन्दोलन की वीर स्त्रियों में पहली सत्याग्रही—और हिन्दी भारती की पहली कोकिला थीं, जिनकी स्वर-लहरियाँ 'चकबस्त' और 'इकबाल' के राष्ट्रीय तरानों के साथ हमेशा हमेशा के लिए जन मन-गन में घुल-मिल गयी हैं।

['हंस', मार्च, १९४८]

पल्लविनी

'पल्लविनी' सुमित्रानन्दन पंत की 'युगांत' तक की लगभग कुल पिछली कविताओं का संशोधित किंचित परिवर्तित, संग्रह—बल्कि चयन है।

इस चयन की ज़रूरत थी। यह एक युग के विराम की सूचना देता है। जिस ज़माने की साहित्यिक हवा को हिन्दी में पंतजी ने पकड़ा था (वह हवा चली ही बहुत कुछ उन्हीं के ज़ोर से थी)—वह ज़माना अपनी साँस पूरी कर चुका। अब खुद कवि के भी स्वर बदल गये हैं। जिनके दिलों को इस तब्दीली की ज़रूरत आईना नहीं हुई है, वे अपने उसी पुराने मोह का रूप और रंग इस चयन में देखकर कुछ खुश हो लेंगे। और जो पाठक आज पंत की कविता के रस को पहले से गाढ़ा पाते हैं, वे पुराने स्वाद की बानगी लेकर, नये ज़ायके को, मुक़ाबले में अच्छी तरह पहचान लेना चाहेंगे। उन्हें कवि का नया दृष्टिकोण चयन में स्वयं नज़र आ जायगा।

इसके पिछले किसी अंक में पंत की कविता के सामाजिक आधारों पर बहुत योग्यता से बहस हो चुकी है। * 'पल्लविनी' ने हमें मौका दिया है कि यहाँ उसकी कला के स्वस्थ विकास पर हम एक नज़र डालें।

पल्लव' में जो अमूमन लम्बी उड़ानें, एक ही विषय को लेकर, कवि ने भरी है—वे ऐसी भावनाओं का रूप हमें देती है, जो बेहद रंगीन और मोहक (शुरु-शुरु में तो बहुत) थीं, रोमानी छायाओं में लिपटी हुई थीं। सचमुच उनका 'फ़ार्म' अनन्त था, जैसा कि शायद उनके भावों का आधार भी मालूम नहीं। 'छाया,' 'अनंग,' 'बादल,' 'नक्षत्र' वग़ैरह इसकी कुछ मिसालें हैं। चुनांचे 'पल्लविनी' में बहुत से छन्द, कुछ इन कविताओं के निकाल दिये गये हैं।

हाँ, कुछ गीत पल्लव के हैं (और गीत के लिए स्वाभाविक भी हैं) जो

---

* दिसम्बर, १९४० के 'हंस' में देखिये शिवदान सिंह चौहान का लेख, "श्रीसुमित्रानन्दन पंत, एक प्रगतिवादी का विकास।"

इस 'अरूपता' का अपवाद है। जैसे, मा अपनी वय वाली में,' भूल अभी से इस जन को,' और भी कुछ छोटी लिरिक्स। दरअसल 'उच्छ्वास, एक बिखरी हुई-सी चीज़ लगने के बावजूद—जो कि वह एक अर्थ में है, यानी भावों और भावनाओं और वर्णित दृश्यों का 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश' लेकर वह एक चीज़ कोई वाकई रह नहीं गयी है—मगर इसके बावजूद इसमें कवि के व्यक्तित्व का हमें एक समन्वय मिलता है (गो बहुत हलके रूप में)—समाज-जीवन की कतिपय चिंताओं के साथ। हाँ, प्रकृति का हाथ उसमे अधिक है, और 'बादल घर' की कन्या का भी हिस्सा इसमें कम नहीं। फिर भी उस कविता में जो एक तड़प और विकलता है वह केवल व्यक्ति की विकलता से कुछ ज्यादा फैली हुई चीज़ है। यह सही है, कि यह रागात्मकता संस्कृत के कालिदास की याद शायद कुछ अधिक दिलाती है और गाँवों के जन-जन के कालिदासो की याद कुछ कम, मगर यह उछ्वास' फिर भी एक व्यक्ति का उछ्वास नहीं, समाज के एक खासे भाग के समान मिलते-जुलते जीवन का उछ्वास है। सबसे बड़ी कसर इस नज़्म मे यह थी कि यह चीज़ तन्दुरुस्त नहीं थी, किसी कदर बीमार थी (वियोगी होगा पहला कवि, आह से उपजा होगा गान !') जिसका मतलब साहित्य में यह भी होता है कि बीमार को अपनी बीमारी से मोह था। वह ज़माने का असर था कि कवि का यह मोह, और कवियों के लिये मोहक हो गया।

दूसरी और तन्दुरुस्त, मगर नाकामियाब कोशिश जो कवि ने अपने तरीके पर समाज-अनुभव को लेकर व्यापक' बनानेकी की, वह 'परिवर्तन' में हम देखते हैं। मगर कवि जब लिरिक भावना को मानो खण्डकाव्य में rhetoric और दर्शन के कधों पर उठाता है—जब कि रहेटरिक में (जैसा कि लाज़ भी हो जाता है) परम्परा की, कितनी ही सुन्दर सही, प्रतिष्ठा हो, और दर्शन मे परिवर्तन (change) को सदैव दुःखान्त ही प्रतिपादित किया हो, भाषा के ओजपूर्ण आवरण में भी—तो वह लिरिक भावना अपनी इस एकाग्र सरसता में बहुत भारी होकर, पाठक से हार मनवाने के अलावा, उसे विशेष कुछ देती नहीं।

'गुंजन' में ही हमें दरअसल कवि की सावधान स्वाधीन कला, किन्तु

केवल कला की साधना का पहला सबूत मिलता है। छन्दों का अपव्यय यहाँ नहीं। भावों का भी बिलकुल नहीं। गीत, यानी शब्द, भाव, ध्वनि और स्वर को मधुर व्यंजना देना ही उसी कला का ध्येय है। अभी विषयों में कवि को मौलिकता की दृष्टि से अगर ग़रीब कहा जाय, तो शायद मेरा मतलब ग़लत समझ लिया जायगा। उसके पास एक चीज़ है अपनी, इस वक्त। और वह है यह नज़रिया कि—'सुख-दुख की खेल-मिचौनी, खोले जीवन अपना मुख!' बाकी चीजें अपने में, अतीव सुन्दर हो सकती हैं। जैसे, 'तप रे मधुर-मधुर मन!' इनमें पतजी की मधुर दार्शनिक वृत्ति के दर्शन ज़रूर होते हैं, मगर वह स्वयं अपने जीवन में क्या चीज़ पकड़कर चल रहे हैं, जिसके सहारे हम भी उनके साथ चल सकें? वह शान्ति और मंगलदायक एक यही चीज़ है केवल—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावे
दुख सुख से औ' सुख-दुख से।

यों कला के उपहार जो हिन्दी के रसिक हृदयों को 'चाँदनी' 'नौका विहार' और 'मधुवन' में मिलते हैं, वे इस युग की कविता के अछूते रत्न कहे जा सकते हैं। 'भावी पत्नी के प्रति' ने तो हिन्दी में कई भावी पत्नियों को जन्म दिया। खैर।

'ज्योत्स्ना' कवि की एकदम सफल और एकदम असफल चीज़ ठहरी है। कला में एक एक्सपैरिमेंट है, यह और बहुत संतोषप्रद, यह भाव इसको पढने पर एक बार उठता ही है। और यह भी कि इसको समझने की कोशिश हिन्दी साहित्यकों में नहीं के बराबर हुई है। यह देखकर भी ताज्जुब होता है कि कितने ही संग्रहों ने 'ज्योत्स्ना' के गीतों को इस तरह नज़र अन्दाज़ कर दिया है गोया इसमें पद्य हैं ही नहीं। एक तरह से कहा जा सकता है, कुछ नाटक मुक्त या बँधे हुए पद्यों में है। मगर यहाँ हमें सिर्फ उसके गीतों से बहस है, जो 'पल्लविनी' में आये हैं। वे गीत 'गुंजन' के मुकाबले में उसी दिशा में बढते हैं, जिस दिशा में 'गुंजन' 'पल्लव' के गीतों से आगे बढा था।

यानी—शब्दों की मितव्ययता के साथ घन्यात्मक महत्व का बढना। ये अपने 'टेक्निकल परफेक्शन' की दाद तो हम से लेते हैं, मगर व्यंजना की मार्मिकता इनमें किंचित खोई हुई मिलती है। प्रतीक छुईमुई से है।

यह गलत न होगा अगर कहा जाय, कि एक खोने-पाने का क्रम कवि के लिखित काव्य-जीवन में चलता है। उसके जीवन में अपने आपसे एक असतोष-सा मानो आकर ठहर जाता है। अतः हम अन्दाज़ लगा सकते हैं कि यह चीज़ कवि को किस तरफ़ लिये जा रही है और ले जायगी। यह अन्ततः अपने मनोभावों के विराग की तरफ़ उसको ले जायगी। बहुत-सी नयी धारायें इस काल में अपने स्रोत खोलती हैं। कवि अध्ययनशील है, शान्त रूप से मननशील, और प्रकृति और मानव जीवन का भी एक गहरा, यद्यपि तटस्थ, अनुवीक्षक हैं। स्वर सरस है, पर गम्भीर, गुरु-गम्भीर, जैसा युगान्त से पहले वह नहीं था। इस गम्भीरता में सरलता है, पर वह भावों की है, विचारों की नहीं। कवि विचारक हो उठा है—तो वह अपनी वृत्ति छोड़कर नहीं, बल्कि अपनी कवि-वृत्ति के द्वारा ही। यही कारण है कि वह अपने तमाम परिवर्तनों के बावजूद, कवि रहता है, और उसकी कविता-धारा बराबर अपनी विशेष प्रगति लेकर चलती है। वह कितना गम्भीर और अपने प्रति अधिक ईमानदार हो गया है, यह उसकी श्रेष्ठ रचना 'बापू' में हम देख सकते हैं, जो प्रथमतः अपने विचारों के बल से ही श्रेष्ठ है। और इस कविता में छन्द और कविता का गौरव केवल अपने में विशेष कुछ नहीं रह जाता है। मेरा मतलब यह नहीं कि शब्द-छद-स्वर-लय पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करना कवि का पहला धर्म नहीं रह गया। पर यह अधिकार यहाँ, 'हेतु मात्र' है अन्त तक। अर्थ से ज़रा-सा भी मुँह मोडने या उदासीन होनेवाली कलात्मकता गीत और नाच के सारे-के-सारे रसों से रचना को चाहे भर दे, पर सच्चे सम्पूर्ण काव्य के तल से वह नीचे आ ही जायगी।

जो पाठक कवि की अभिनवतम प्रवृत्तियों के आदी नहीं हो सके हैं, लेकिन, जो 'पल्लव' की चीज़ों को ही उसकी श्रेष्ठ कृतियाँ मानने को तैयार हैं, वे निश्चय 'युगांत' को उनकी अन्तिम सुन्दर कृति कहेंगे। उसमें काफ़ी हद तक एक ठहराव, एक सकून, एक रंगीनी, साथ-साथ एक मधुर दार्शनिकता

और कितने ही मानव भावों का समन्वय है। जो हो, 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की खूबियों को समझने, उनके आर्ट और उनके भाव-तत्वों को जाँचने के लिए, 'पल्लविनी' में चुनी हुई रचनाएँ तुलनात्मक अध्ययन के लिए बहुत उपादेय होंगी। कलाकारों में जहाँ छंद, गति और लय में एक 'निराला' शुरू से अब तक अपनी मिसाल आप हैं, उसी तरह शब्दों के माधुर्य और कोमल सौंदर्य, साथ ही पूर्ण प्रकारात्मक न्यास तथा सुरुचिपूर्णता में पन्त का अपना अकेला स्थान है।

यह बात भी जानने के काबिल है कि कवर-डिज़ाइन महादेवी वर्मा के कलम का नमूना है, और 'पल्लविनी' की सुन्दर लैटरिंग पंतजी की स्वयं अपनी की हुई है।

['हंस', मार्च, १९४१]

'ग्राम्या'— एक परिचय

उस दिन खासी बहस के बाद यह सवाल उठा था कि क्या हम इन कविताओं को फिर-फिर पढ़ने को लालायित होते हैं ? शायद नहीं। और इस सहमति के बाद बहस खत्म हो गयी थी।

एक बड़ी गलती हमने की थी।

एक और मित्र के साथ कुछ दिन बाद 'ग्राम्या' की कुछ कविताएँ पढ रहा था। और उस समय यह बात मुझे महसूस हुई कि नये पंत को हमें सिर्फ अकेले और एकांत भाव से पढना होगा।

सच तो यह है कि मन-ही-मन धीरे धीरे जितना ही इस संग्रह को पढिए यह कीमती होता जाता है। और उस दशा में नामुमकिन है कि इसमें कम से-कम तीन सुन्दर श्रेष्ठ रचनाएँ किसी पाठक को बिलकुल अपने मन की और पसन्द की न मिलें। अलबत्ता यह हो सकता है कि जहाँ वह सिर्फ मस्त और बेखबर होना चाहता हो वहाँ वह अपने आपको ठगा सा, खोया-सा पाए, और बुरी तरह। या जहाँ वह आग और शोला ढूँढता है, वहाँ उसे अधिक गर्मी नहीं, सिर्फ रोशनी मिले। जिसमें वह कुछ इस तरह अपने आपको पहचानने लगे मानो वह किसी नयी दुनिया में आँखें खोल रहा हो। क्योंकि इस संग्रह में जो नयी बातें हैं—जो कई हैं—वे आज के ही हमारे जीवन की अक्सर देखी-सुनी बातें हैं। मगर वे कुछ इसलिये अजीब, बल्कि अनसुनी-सी लगेंगी, क्योंकि उनमें कवि ने अपने तरीके पर आनेवाले दिनों की एक तस्वीर पेश करने की भी कोशिश की है। इस तरीके या ढंग पर कुछ आगे कहूँगा।

× × ×

'इनमें पाठकों को ग्रामीणों के प्रति केवल बौद्धिक सहानुभूति ही मिल सकती है।' ('ग्राम्या' के 'निवेदन' से)

मतलब यह कि 'ग्राम्या' में सामूहिक चेतना भावना के लिए अपील नहीं, अर्थात् हमारे अन्दर से उठकर जो प्रेरणाएँ कल देश और समाज की ताकत

बननेवाली है, 'ग्राम्या' का सम्बन्ध मुख्यतः उन्हीं से है।' फिलहाल, हमारी नागरिक साहित्यिक भावनाओं के लिए वह है, वह अपील उन्हें अस्थिर-चेतन करने के लिए है, तृप्त करने के लिए नहीं है। उन्हें परिष्कृत, संयत और मजबूत करने के लिए है। यह आधुनिक कविता-रस का एक मुख्य हेतु है। 'ग्राम्या' का नया दृष्टिकोण यह है कि इस कविता में आवेश और उद्वेग न होगा। इसके ऊँचे स्वर-तालों में छिपा हुआ एक आंतरिक ठहराव होगा। यह जरूरी है। उसकी रस-व्यंजना, कवि का सारा 'मूड' आइना होगा उसके विशेष दार्शनिक भावों का—उसके दर्शन के अनुरूप तर्क-संगत। यानी, उसकी कविता का 'आधार-पूर्ण' होना बहुत जरूरी है।

इस आधार-पूर्णता—वह चीज़ जिस पर ये कविताएँ अंत में जाकर टिकती हैं—की इस समय विवेचना करने की मुझमें क्षमता नहीं। सिर्फ इतना कहने का साहस करता हूँ, कि उस चीज़ का स्पष्ट अनुभव इन कविताओं में होता है, और वह 'आधार-तल' हमें 'युग वाणी' की जमीन से आगे और कुछ ऊँचा मिलेगा। ऊँचा इसलिए कि वह वर्ग-संघर्ष के बाद स्थापित साम्यवाद को मानवता के अधिक उदार शाश्वत, ऐक्य में परिणत देखता है। उस आदर्श भविष्य में—

मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक, सुन्दर

ही नहीं है, बल्कि सब तर्कवाद डूब गये हैं, और विश्व-संघर्ष शान्त है। अतः शान्त है अपने भौतिक रूप में मार्क्स का ऐतिहासिक चिरद्वन्द्व भी।—कवि इसके नियम से इन्कार नहीं करता, लेकिन उसकी दिलचस्पी इस द्वन्द्व-जनित प्रगति के अन्तिम रूपों और चेतनाओं से है।' पूर्ण जगत के कारण' से कवि की विनय है—

हो धरणि जनों की, जगत स्वर्ग-जीवन का घर
नव मानव को दो, प्रभु! भव मानवता का वर।

'नव इंद्रिय' में कवि की पुनः कामना है—

नव मानवता का अनुमान कर सके मनुज
नव चेतनता से सक्रिय !
भव मानवता का साम्राज्य बने भू पर
दश दिशि के जनगण को प्रिय ।

एक इसी कविता मे कवि कहता है—

एक शक्ति से कहते, जग प्रपंच यह विकसित,
एक ज्योति कर से समस्त जड़ चेतन निर्मित,
सच है यह आलोक पाश में बँधे चराचर
मान आदि कारण की ओर खींचते अंतर !
मानव ही क्यों इस असीम समता से वंचित ?
ज्योति भीत, युग-युग से तमस विमूढ विभाजित !!

इस प्रकार हम देखते हैं, कवि चाहता है कि जन-जीवन में उस सत्य का अनुभव हो जो हमें वास्तव में वेदान्त के निकट लाता है। लेकिन किस जन-जीवन का यहाँ जिक्र है ? उसका, जो पहले साम्यवाद से प्रतिष्ठित हो चुका है। अभी आज के जीवन में तो यह आदर्श सामंतवाद का पोषक हो जाएगा। अतः पहले ज़रूरी है, कि जनवाद की शक्तियों का पूर्ण विकास हो, जन-मानव पूर्णतया मुक्त और स्वतंत्र हो।

आज युग का गुण है—जन-रूप,
रूप-जन संस्कृति के आधार !
स्थूल, जन आदर्शों की सृष्टि
कर रही नव संस्कृति निर्माण,
स्थूल युग का शिव, सुन्दर, सत्य,
स्थूल ही सूक्ष्म आज, जन प्राण !

इसलिए अहिंसा भी आज जनों के हित-बन्धन बन रही है—

वह मनुजोचित, कब ? जब जन हो विकसित।
भावात्मक आज नहीं वह, वह अभाव वाचक,
उसका भावात्मक रूप प्रेम केवल सार्थक।

हिंसा विनाश यदि, नहीं अहिंसा मात्र सृजन,
वह लक्ष्य शून्य अब . . .
भव तत्व प्रेम : साधन है उभय विनाश सृजन,
साधन बन सकते नहीं सृष्टि गति में बन्धन !

प्रेम की उदार शक्ति से खाली होने के कारण ही गाधीजी का अहिंसास्त्र आज देश में सफल नहीं हो रहा ।

'स्थूल ही सूक्ष्म आज' का एक सुन्दर उदाहरण 'सूत्रधार' शीर्षक कविता है, जिसमें यत्र की विवेचना और व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

......मानवता का विकास
'यत्रों के सँग हुआ, सिखलाता नृ-इतिहास ।
जीवन सौन्दर्य प्रतीक यत्र , जन के शिक्षक ,
युग क्रान्ति प्रवर्तक ओ, भावी के पथ दर्शक ।
वे कृत्रिम निर्मित-नहीं, जगत क्रम में विकसित,
मानव की यत्र, विविध युग स्थितियों में वर्धित ।

यह सही । पर देश के लिये जो अतिक मगलरूप है, वही असम्भव-सा-भविष्य में प्रत्यक्ष होने वाला स्वप्न है—

अहिंसास्त्र जन का मनुजोचित
चिर अप्रतिहत है,
बल के विमुख, सत्य के सम्मुख
हम श्रद्धानत हे,
जन भारत हे
जाग्रत भारत हे

(राष्ट्र गान)

सफल आज उसका तप संयम,
पिला अहिंसा स्तन्य सुधोपम,
हरती जन मन भय, भव तम भ्रम,

जग जननी
जीवन विकासिनी
(भारत माता)

जिस 'विकसित मानव' और 'मुक्त हुए जन' से भविष्य का समाज निर्मित होगा, आज उसके एकाकी उदाहरण केवल महात्माजी हैं—

पूर्ण पुरुष, विकसित मानव तुम, जीवन सिद्ध अहिंसक,
मुक्त-हुए तुम मुक्त-हुए-जन, हे जग-वंद्य महात्मन् !

कहना नहीं है कि, आज के ये जग वद्य महात्मन्' सामत-युग के 'विकसित व्यक्ति' से विपरीत दिशा में दूसरे ध्रुव की दूरी पर हैं।

× × ×

इस तरह की नयी कविता के लिये निश्चय है कि पहले शब्द, रस और अभिव्यक्ति पर कवि को असामान्य अधिकार प्राप्त हो जिसका कि महत्व उसके बिलकुल छिपे रहने में होगा, और जा स्वय कोई मामूली बात नहीं।

वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलकार,
तुम रूप कर्म से मुक्त, शब्द के पख मार
कर सको सुदूर मनो नभ में जन के विहार,
ज्योतित कर जन मन के जीवन का अधकार,
तुम खोल सको मानव उसके निःशब्द द्वार,
वाणी मेरी, चाहिए तुम्हें क्या अलकार ?

सच तो यह है कि 'पल्लव' में शब्द-माधुर्य ने कवि को बहुत मोह लिया था। भावों के साथ उसका सतुलन 'गुञ्जन' में शुरू हो जाता है, जो 'युगांत' में गम्भीर होकर आगे 'युगवाणी' में कवि को अखरने-सा लगता है। यहाँ तक कि वह अक्सर लिरिक भावना को तिलाजलि तक दे देता है। वह पहली सी कोमलता कहीं खो जाती है।

'ग्राम्या' में वह श्री एक तरह से फिर लौट आती है, यानी प्रौढ और गम्भीर होकर। असल में, 'युग-वाणी' के 'काले अन्धकार तन-मन का !' के साथ के सात-आठ गीतों को 'ग्राम्या' के ही अन्तर्गत समझना चाहिए, क्योंकि

ग्राम्या' की तरह उनकी शब्द-व्यंजना भी माधुर्य से पुष्ट है। वह माधुर्य भावों में घुला हुआ, छिपा हुआ है। यहाँ तक कि तुक भी इतने स्वाभाविक और पद-विन्यास में इतने खपे हुए आते हैं कि पंक्तियाँ कहीं-कहीं पढने में अतुकांत-सी जान पड़ती हैं। जो एक अनोखा और शायद हिन्दी के लिये नया सौन्दर्य है।

एकदम भावों की सच्चाई को ही कवि ने मुख्य रखा है। इस सादगी में विस्तार के लिए जितना कम, प्रसाद गुण और प्रभाव के लिए उतना ही अधिक स्थान हो गया है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कुछ उदाहरण देने आवश्यक होंगे।

खिड़की से

पूस, निशाका प्रथम प्रहर, खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्रवन सोया, क्षण भर
दिन का भ्रम होता, पूनो ने तृण तरुओं पर
चाँदी मढ दी है, भू को स्वप्नों से जड़कर
स्पष्ट दीखते,—खिड़की की जाली में विजड़ित,
कटहल, लीची, आम,—एक गेंदुर से कंपित,
फाटक औ हाते के खंभे, बगिया के पथ,
आधी जगत कुएँ की कुटिया की छाजन श्लथ,
अस्पताल का भाग, मेहराबे दरवाजे,
स्फटिक सदृश जो चमक रहे चूने से ताजे,
औ'—टेढी मेढी दिगन्त रेखा के ऊपर,
पास-पास दो पेड़ ताड़ के खड़े मनोहर!

ग्राम श्री

बालू के साँपों से अंकित
    गंगा की सतरंगी रेती
सुन्दर लगती सरपत छाई
    तट पर तरबूजों की खेती।

अँगुली की कघी से बगुले
कलँगी सँवारते हैं कोई,
तिरते जल में सुरखाब, पुलिन पर
मगरौठी रहती सोई ।

वे आँखें

अधकार थी गुहा सरीखी
उन आँखों से डरता है मन,
भरा दूर तक उनमें दारुण
दैन्य दुःख का नीरव रोदन ।
यह अथाह नैराश्य, विवशता का
उनमें भीषण सूनापन,
मानव के पाशव प डन का
देतीं वे निर्मम विज्ञापन

आँखों में ही घूमा करता
वह उसकी आँखों का तारा,
कारकुनों की लाठी से जो
गया जवानी ही में मारा !
बिका दिया घर द्वार,
महाजन ने न ब्याज की कौड़ी छोड़ी
रह-रह आँखो में चुभती वह
कुर्क हुई बरधों की जोड़ी ।

भारत माता

भारत माता
ग्रामवासिनी ।
खेतों में फैला है श्यामल

धूल-भरा मैला सा आँचल,
गंगा यमुना में आँसू जल,
मिट्टी की प्रतिमा
उदासिनी ।
चिन्तित भ्रकुटि क्षितिज तिमिरांकित
नमित नयन नभ वाष्पाच्छादित,
आनन श्री छाया शशि उपमित
ज्ञान मूढ
गीता प्रकाशिनी ।

पतझर

झरो, झरो, झरो !
जंगम जग प्रांगण में,
जीवन संघर्षण में,
नवयुग परिवर्तन में
मन के पीले पत्तो
झरो, झरो, झरो !
तुम पतझर, तुम मधु—जय !
पीले दल, नव किसलय,
तुम्हीं सृजन, वर्धन, लय,
आवागमनी पत्तो !
सरो, सरो, सरो !
जाने से लगता भय ?
जग में रहना सुखमय ?
फिर आओगे निश्चय !
निज चिरत्व से पत्तो
डरो, डरो, डरो !

जन्म मरण से होकर,
जन्म मरण को खोकर,
स्वप्नों में जग सोकर,
मधु पतझर के पत्तो !
तरो, तरो, तरो !

कवि ने अपनी रचनाओं में हिंसा और अमंगल को स्थान नहीं देना चाहा है, क्योंकि हमें सबल उद्गार चाहिए। करुणा, रोदन और चीत्कार नहीं। इनका तो अर्थ होगा, कवि के शब्दों मे अगर कहूँ 'केवल प्रतिक्रियात्मक साहित्य को जन्म देना।'

हमें भावों का क्रियात्म रूप पकड़ना है। मानव ट्रैजेडी के गहन गह्वरो में सिर्फ इसलिये झाँकना है कि उनमें 'जीवन के संस्कार', 'भावी संस्कृत उपादान' और 'मनुष्यत्व के मूलतत्व' मिल सकें, कि जिनसे 'नव मानवता' का निर्माण हो सके।

इसके अतिरिक्त, उस दारुण अन्धकार में खो जाने से बचना ही मंगलकर है। यह बचाव 'केवल बौद्धिक सहानुभूति में ही आसान है।' लेकिन एक सच्चे कवि के लिये आसान नहीं। क्योंकि, उसे तो अपने भावों का खरापन और अपनी कल्पना की धार कायम रखते हुए, उन्हें एक दृढ, प्रबुद्ध, संयत गतिविधि के आधीन करना होगा। यह उसकी रुचि होगी जो कि मूलतः दार्शनिक है। एक साथ कलाकार और आलोचक का जो रूप उसमें प्रत्यक्ष होगा, वह सहसा उसे जनता का कवि नहीं बना सकता, महान चाहे वह उसे बना दे। जनता का कवि जनता के बीच से उठता है, जनता के अहं और उपचेतन की गहराइयों से एक नये, अमर प्राण की तरह। परन्तु बताना आवश्यक है कि इसकी बहस यहाँ एक गलत बात होगी।

तब इस कवि का रूप कैसा है? थोड़े से कुछ उदाहरण हमने देखे। 'ग्राम्या' पढ़ जाने के बाद हम क्या पाते हैं? 'मूलतत्त्वों' के खोजवाले इस निःसंग कवि की दृष्टि ग्रामीणों की आँखों में दूर तक डूबी है, घोर दारिद्र्य की नंगी वृद्ध छाया वह छू सका है, ग्रामीण लड़कों की 'पशुओं सी भीत मूक

चितवन' भी उसने आँकी और अंकित की है अगणित ग्रामों के 'चेतना विहीन' 'विश्वास मूढ' निवासी, कठपुतले 'चिर रूढ रीतियों के गोपन सूत्रों में बँध' नर्तन करते उसने देखे हैं, 'संध्या के बाद—' गाँवों के कुलियों और दुकानदारों के जीवन में रोज़ जो हृदयहीन एक ट्रैजेडी गहरी हो जाती है, उसकी मौन मर्मांतक कथा उसने प्रस्तुत की है। पर इन सबको घेरे हुए जो संध्या की-सी एक ठहरी शान्ति, प्रकृति का मुक्त, स्वस्थ अनुराग, गंगा का निश्चल स्वर्गिक मर्मर है, जो खेत, वन, कूप, तड़ाग, पथ पर्व, यात्रा, नहान, नाच-रंग, रास, आदि का खुला हुआ (चाहे क्षणिक सुखी-सा और क्षीण, रूढि-रीति ग्रस्त) जीवन है,—वह जहाँ एक ओर पूर्वोक्त दृश्यों की भीषणता को अपनी पृष्ठ भूमि पर रेखांकित करता है, वहाँ उनमें छिपे आरक्त प्राण-बीजों को खोलकर दिखाता भी है। एक विचित्र सुहास, व्यंग, कटूक्ति और साथ ही एक दबी हुई करुणा और व्यथा उसमें मिली हुई है। कवि देश-व्यापी दुर्व्यवस्था के छिपे कारणों को उलट रहा है। पर उसकी उँगलियों में ज़रा कंपन नहीं, बल्कि एक सिद्ध कुशलता-सी लिए हुए उनमें एक स्वस्थ गुदगुदी जो कहीं सरल है कहीं सहज हा क्रूर, और कहीं स्वभावतः कौतुक पूर्ण, पर एक स्वस्थ, निश्छल उत्साह उनमें प्रतिक्षण छिपा हुआ है।

'ग्राम्या' में प्रकृति एक 'पल-पल परिवर्तित' सौंदर्य-चित्र न रहकर मानव-जीवन की पृष्ठभूमि से कुछ अधिक उभर, उसके दैनिक जीवन का एक बन, बल्कि उसके जीवन-क्रम में एक मूक शक्ति रूप, भावनाओं में एक रस बोध-सी, उसकी अनजान वैभव, उसकी श्री बनकर आती है। यह क्रम 'युगवाणी' में अच्छी प्रकार आरम्भ हो गया था। गाँव की प्रकृति एक सार्थक शक्ति है। वह फलदा है और मानो कर्म से मुक्त है। मोह-मुक्त वह एक दम नहीं, पर चिंतन-रहित है। वह गाँव का परिचित-अपरिचित स्वर्ग है। ग्रामनिवासियों के आंतरिक दुःखों की एक क्षीण छाया कभी-कभी उस पर पड़ जाती है, पर वह शीघ्र ही कहीं खो जाती है।

× × ×

मैं यहाँ दो खास बातों की तरफ़ पाठकों का ध्यान आकृष्ट करूँगा। यानी 'ग्राम्या' में नारी-चित्रण और व्यंग्य।

पहले व्यग्य या 'सेटाएर' को लीजिए ।

मनुष्य में स्वास्थ्य-संरक्षण का एक प्राकृतिक नियम है । अनुभूति परिस्थितियों पर विजय पाकर जब हम औरों को भी वैसी ही परिस्थितियों से मुक्त देखना चाहते हैं, पर सामाजिक कारणों से वैसा कर सकना अपनी शक्ति और स्वास्थ्य के लिये असम्भव या हानिकर प्रतीत होता है, तो एक अनजान प्रेरणा हमारी सहानुभूति को ही व्यग और उपहास का रूप दे देती है ताकि एक ओर तो अनजाने और परोक्ष में उन लोगों का उद्धार हो जो हमारे व्यंग का शिकार बनते हैं, और दूसरी ओर हमारे बचाव की तटस्थ स्थिति पूर्ववत् बनी रहे । यही स्वाभाविक प्रेरणा, व्यग और उपहास का नैतिक आधार है ।

उपहासकर्ता में तटस्थता न होगी, तो उसका व्यग कटूक्ति हो जायगा । उसमें यदि उपहास्य की परिस्थिति की-सी पूर्व अनुभूति न होगी, तो वह व्यंग विरस और रूखा होगा । इसके विपरीत, तटस्थता जितनी ही गहरी पूर्व-अनुभूतियों से पुष्ट होगी , तथा उस तटस्थ-तल से अनुभूतियाँ जितनी ही साफ अन्वेक्षित होंगी—व्यग उतना ही स्पष्ट सार्थक, साथ-साथ उतना ही मार्मिक होगा ।

पतजी के व्यग की तरलता और गहराई और उसका आस्वादन भी—अभी बहुत कुछ भविष्य की चीज़ है । फिर भी 'ग्राम्या' ने उस भविष्य की ओर एक बहुमुखी सकेत किया है और बहुत स्पष्टतया किया है ।

सीधा खुला हुआ नारकीय व्यग—जिसमें वर्ग-जनित विषमताओं और उपेक्षाओं पर भी छींटे हैं, हमें 'चमार-चौदस के ढग' में मिलता है—

अ र र र . . . .
मचा खूब हुल्लड़ हुड़दग,
धमक धमाधम रहा मृदग,
उछल कूद, बकवाद, झड़प में
खेल रहीं खुल हृदय उमग
यह चमार चौदस का ढंग ।

मजलिस का मसखरा करिंगा
बना हुआ है रंग विरंगा,
भरे चिरकुटों से वह सारी
देह हँसाता खूब लफंगा
स्वांग युद्ध का रच बेढंगा।

जमींदार पर फबती कसता,
बाम्हन ठाकुर पर है हँसता,
बातों में वक्रोक्ति, काकु, औ,
श्लेष बोल जाता वह सस्ता,
कल कांटा को कह कलकत्ता।

गाँवों में गहनों से ही शरीर लादने की गँवारू प्रथा पर, केवल मात्र गहनों के नाम और वर्णन द्वारा जो एकदम खुली चोट है, वह 'नहान' शीर्षक कविता के अलंकार वर्णन के गांभीर्य में हम देखते हैं:—

सिर पर है चँदवा शीशफूल
कानों में झुमके रहे झूल,
बिरिया, गलचुमनी, कर्णफूल।
गल में कटवा, कंठा, हँसली,
उर में हमेल, कल चंपकली,
जुगनी, चौकी, मूँगे नकली।
बाँहों में बहु बहुँटे जोशन,
बाजूबँद, पट्टी, बाँक, सुघम,
गहने ही गवाँरिनों के धन!

ग्राम वधू की विदाई का दृश्य देखिये:—

भीड़ लग गयी लो, स्टेशन पर,
सुन यात्री ऊँचा रोदन स्वर,
झाँक रहे खिड़की से बाहर
जाती ग्राम-वधू पति के घर।

चिंतातुर सब, कौन गया मर,
पहियों से दब, कट पटरी पर,
पुलिस कर रही कहीं पकड़-धर ?
जाती ग्राम वधू पति के घर।
लो, अब गाड़ी चल दी भर-भर,
बतलाती धनि पति से हँसकर,
सुस्थिर डिब्बे के नारी नर,
जाती ग्राम-वधू पति के घर।

'नहान' में कवि की सहिष्णुता अंत में फिर भी प्रकट हो ही गयी है। कवि की आलोचना भी स्पष्ट है। इन सभी कविताओं के पीछे कवि की गम्भीर आलोचनात्मक दृष्टि एकाध बार हमें दिख जाती है। 'ग्राम-देवता' लंबी रचना है। इसका व्यंग इसके दृष्टिकोण में है। फिर भी विषय की गम्भीर वास्तविकता रह-रहकर उसे ढक देती है। जैसेः—

राम राम

हे ग्राम्य-देवता, यथा नाम।
शिक्षक हो तुम, मैं शिष्य, तुम्हें सविनय प्रणाम।
विजया, महुआ, ताड़ी, गाँजा पी सुबह-शाम
तुम समाधिस्थ नित रहो, तुम्हें जग से न काम!

पंडित, पंडे, ओझा, मुखिया, औ साधु संत
दिखलाते रहते तुम्हें स्वर्ग अपवर्ग पंथ।
जो था, जो है, जो होगा,—सब लिख गये ग्रंथ,
विज्ञान ज्ञान से बड़े तुम्हारे मंत्र-तंत्र।

देश के वर्तमान में छिपे-दबे सांस्कृतिक बीजों के प्रति कवि श्रद्धानत है। व्यंग में निहित आलोचनात्मक गाम्भीर्य समीक्षा के संतुलन द्वारा पंतजी ने शहरों के नारी-जीवन में दिखावटी और सारहीन रंगीनी और विलासप्रियता पर कटाक्ष किया है। वह अत्यंत सरस सांकेतिक 'स्वीट पी के प्रति' में हमें देखने

का मिलता है। इसमे व्यंग ही केवल हो, यह बात नहीं। उसके पीछे जो पीड़ा है, वह मर्मान्तक है।

कुल वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार।
शयन कक्ष, दर्शन ग्रह की शृङ्गार!
उपवन के यत्नों से पोषित,
पुष्प यान में शोभित रक्षित,
कुम्हला जाती हो तुम निज शोभा ही के भार!
उन्नत वर्ग वृन्त पर निर्भर,
तुम संस्कृत हो, सहज सुघर,
औ निश्चय वानस्पत्य चयन में
दोनों निर्विशेष हो सुन्दर!
निबल शिराओं में, मृदुतन में
बहती युग-युग से जीवन से सूक्ष्म रुधिर की धार।
कुल वधुओं-सी अयि सलज्ज सुकुमार!

'ग्राम्या'

क्या न बिछाओगी जन-पथ पर
स्नेह सुरभिमय
पलक पँखड़ियों के दल!
स्निग्ध दृष्टि से जन-मन हर
आँचल से ढँक दोगी न शूलचय?
जर्जर मानव पदतल?

खोखले प्रदर्शन मात्र को कवि ने विलायती फूलों के नामों की तालिका देकर जिस रूप में प्रस्तुत किया है, वह देखने की चीज़ है:—

नव वसंत की रूपराशि का ऋतु उत्सव यह उपवन,
सोच रहा हूँ जन जग से क्या सचमुच लगता शोभन।

या यह केवल प्रतिक्रिया, जो वर्गों के संस्कृत जन
मन में जाग्रत करते, कुसुमित अंग, कंटकावृत मन !
रंग-रंग के खिले फ्लाक्स, वरवीना, छपे डिमाथस,
नत दृग एँटिह्निनम, तितली सी पैंजी, पापीसालस,
हँसमुख कैंडीटफ्ट, रेशमी चटकीले नैस्टरशम,
खिली स्वीट-पी—एबाइस, फिल बास्केट औ' ब्लूवैटम ।

'ग्राम्या' में नारी 'युगवाणी' से भी कुछ अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप में आती है—काफी आलोचित-परिवेक्षित रूप में। कवि ने शहराती नारियों के कृत्रिम जीवन के चित्रण में वास्तविकता के 'टच्चेज़' अधिक दिये हैं। कवि की ग्राम-नारी फिर भी आदर्श टाइप के निकट की चीज़ दिखती है। उसका अपना व्यक्तित्व यों होता भी कितना है! 'ग्राम श्री' की 'तुलसा' का ही एक उभरा हुआ व्यक्तित्व हमें मिलता है, चित्र एक बार पढ़ने पर भूलता नहीं। और यह सजीव चित्र कुल दो पंक्तियों में है—

हाँका करती दिन भर बन्दर
अब मालिन की लड़की तुलसा।

अस्तु, मुख्य प्रयोजन कवि का यह रहा है कि ग्राम-नारी के मुक्त, स्वस्थ, कृत्रिमता रहित, कार्य-विरत, अपेक्षित जीवन के सामने झूठी, निष्प्राण, विलासप्रिय नागरिकाओं को रखे, जिनका जीवन कि 'जग से चिर अज्ञात' अपने ही सौन्दर्य वर्धन में लीन है। उचित ही बहुत कठोर होकर कवि ने हमारे असंख्य ग्राम-युवतियों की तुलना में इनका चित्र दयनीय और तुच्छ दिखाया है। यह है आधुनिका का रूप :—

लहरी-सी तुम चपल लालसा श्वास वायु से नर्तित,
तितली-सी तुम फूल फूल पर मँडराती मधुक्षण हित !
मार्जारी तुम, नहीं प्रेम को करती आत्म-समर्पण,
तुम्हें सुहाता रंग-प्रणय, धन पद मद, आत्म प्रदर्शन !
तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी !

यह मज़दूरनी का चित्र है :—

सर से आँचल खिसका है—धूल भरा जूड़ा,—
अधखुला वक्ष,—ढोती तुम सिर पर धर कूड़ा ,
हँसती बतलाती सहोदरा-सी जन-जन से,
यौवन का स्वास्थ्य झलकता आतप-सा तन से ।

निज द्वन्द प्रतिष्ठा भूल, जनों के बैठ साथ,
जो बँटा रही तुम काम-काज में मधुर हाथ,
तुमने निज तन की तुच्छ कचुकी को उतार
जग के हित खोल दिए नारी के हृदय द्वार !

नारी के प्रति शुरू से ही कवि की जो सुन्दर भावना रही है, उसने वास्तविकता का आधार ले लिया है। उसका व्यापक रूप इस प्रकार और भी ऊँचा उठ गया है। कवि जिस महान स्वतन्त्रता के मुक्त वातावरण में नर-नारी के नये, सार्थक जीवन की कल्पना करता है, वहाँ तुच्छ, संकुचित वासनाओं और भावनाओं के लिये स्थान नहीं। उनकी जगह प्रेम की पवित्र प्रेरणाएँ ले लेती हैं कि जिनके स्पर्श से काम और प्रणय भी जीवन के अन्य नैसर्गिक कर्मों के समान ही मनुष्य के संस्कारों को पहले से अधिक सुन्दर और पावन करते हैं।

धिक रे मनुष्य, तुम स्वच्छ, स्वस्थ, निश्छल चुम्बन
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?
मन में लज्जित, जन से शंकित, चुपके गोपन
तुम प्रेम प्रकट करते थे नारी से कायर !

क्या क्षुधा तृषा औ स्वप्न जागरण-सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
बन जाता अमृत न देह-गरल छू प्रेम-अधर ?
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?

नारी की वास्तविक महिमा दिखाकर कवि ने जीवन की विषमताओं का कुछ उपचार प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। 'स्वीट पी के प्रति', 'स्त्री'

'मजदूरनी के प्रति', 'नारी', 'द्वन्द्व प्रणय' और 'उद्‌बोधन'—विभिन्न रूप में ये सभी इसके स्पष्ट उदाहरण हैं। उद्‌बोधन की पंक्तियाँ हैं—

खोलो वासना के वसन
नारी-नर !
वाणी के बहु रूप, बहु वेष, बहु विभूषण
खोलो सब, खोलो सब
एक वाणी,—एक प्राण, एक स्वर !
वाणी केवल भावों—विचारों की वाहन
खोलो भेद भावना के मनोवसन
नारी नर !

समरांगण बना आज मानव उपचेतन मन,
नाच रहे युग-युग के प्रेत जहाँ छाया तन,
धर्म वहाँ, कर्म वहाँ, नीति, रीति रूढ़ि चलन,
तर्कवाद, सत्व न्याय, शास्त्र वहाँ, षड् दर्शन,
खंड खंड में विभक्त विश्व चेतना प्रांगण
कीर्तियाँ खड़ी हैं वहाँ देश काल की दुर्धर !
ध्वंस करो, भ्रंश करो, खँडहर हैं ये खँडहर,
खोलो विगत सभ्यता के क्षुद्र वसन
नारी नर !

नव चेतन मनुज आज करें धरणि पर विचरण,
मुक्त गगन में समूह शोभन ज्यों तारागण,
प्राणों प्राणों में रहे ध्वनित प्रेम का स्पन्दन,
जन से जन में रे बहे, मन से मन में जीवन,
मानव हो मानव—हो मानव में मानवपन
अन्न-वस्त्र से प्रसन्न, शिक्षित हों सर्व जन,
सुन्दर हो वेश, सबके निवास हों सुन्दर,
खोलो परंपरा के कुरूप वसन,
नारी-नर !

['भारत', २२ अक्तूबर, १९४०]

मुक्त-छन्द

हमारे आज के काव्य में मुक्त-छन्द का क्या महत्व है, और वह काव्य का एक स्वस्थ अंग है या अस्वस्थ ?

वास्तव में इस विषय को उठाने की योग्यता मैं अपने अन्दर कम पाता हूँ। केवल इसलिये कि मुक्त छन्द का मैं शुरू से हामी और समर्थक और अपनी सीमा में एक प्रयोगक रहा हूँ, मुझे इस समस्या पर कलम उठाने का कोई विशेष अधिकार नहीं मिल जाता। फिर भी...यहाँ इस विषय को उठाने का समय भी अभी नहीं आया है। यद्यपि सफलतम कवियों में निराला और प्रसाद और इधर के लिरिक पद्यकारों में नरेन्द्र, अज्ञेय और केदारनाथ अग्रवाल ने मुक्त-छन्द में रचना के ऐसे नमूने उपस्थित किये हैं, कि उनको लेकर इस 'काव्य-प्रकार' की काफी-कुछ विवेचना की जा सकती है, मगर यह विवेचना तीन कारणों से मैं असमय ही समझता हूँ।

प्रथम—निराला, प्रसाद, पंत आदि की काव्य-कला का गम्भीर विश्लेषण अभी मोटे तौर से भी नहीं हो सका है। यानी, उपरोक्त कविगण अपने पद्य में विशेष विशिष्ट शब्दों को जिस स्थान पर रखते हैं उस स्थान पर क्यों और किस प्रकार रखते हैं—और उन्हीं शब्दों को क्यों रखते हैं, उन शब्दों के भाव कवियों के व्यक्तित्व का परिचय किस प्रकार किस शृंखला से देते हैं, इन कवियों की शैलियों का विशेष रूप वैसा क्यों है, इनके छन्दों का बारीक इतिहास, इनके प्रयोगों की काल-क्रम से विवेचना, इत्यादि। ये बातें अभी हमें नहीं समझायी गयी हैं। इन प्रश्नों के साथ दूसरे महत्व के प्रश्न हैं। मसलन्, इनके छन्द-प्रयोगों का तारतम्य आम जनता की स्वाभाविक साहित्यिक अभिरुचि से कितना है, कितना नहीं ? किस प्रकार वह अधिक हो सकता है, या होता ? इन कवियों का साधारण पाठकों से जो सम्बन्ध आज है—जितना कुछ भी उसकी तुलना हमारे पिछले तथा अन्य देशों के महान कवियों से करने पर, हम क्या क्या निष्कर्ष निकाल सकते हैं—क्या-क्या बातें सीख सकते हैं। जब तक पहले इन

सब शर्तों का थोड़ा-बहुत संतोषजनक उत्तर नहीं मिल जायगा, तब तक मुक्त-छन्द की बहस यथार्थ में विदेशी समस्या का ही रंग-रूप ले लेगी। पहले तो प्रचलित छन्दों का और अर्ध-प्रचलित छन्दों का—जो अब से २०-३० वर्ष पूर्व अधिक प्रचलित थे—लेखा हमें लेना ही होगा, यानी आज के हमारे जीवन से उनका आन्तरिक सम्बन्ध साफ़-साफ़ समझ लेना होगा, इसके बाद ही हम मुक्त-छन्द की समस्या उठा सकते हैं।

दूसरे और तीसरे कारण ये हैं कि—

साधारण हिन्दी पाठकों की साहित्यिक सुरुचि का तल एक तो वैसे ही बहुत कुछ अस्पष्ट ज्ञात सामन्ती काव्य-प्रणालियों तथा परिपाटियों से बँधा हुआ है, जिनको तर्कपूर्ण रीति से समझने की आदत हमारे समालोचकों की कोशिशों (!) के बावजूद भी उनमें कम पैदा हो सकी है, दूसरे, नये काव्य प्रकारों की परिपाटियों से वे यथार्थ में सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यह धारणा रखना ग़लत है कि हमारे अँग्रेज़ीदाँ हिन्दी पाठक मुक्त-छन्द, अतुकान्त छन्द, गद्यकाव्य, काव्य-गद्य आदि के बारे में साफ़ साफ़ कुछ जानते या जानने की इच्छा रखते होंगे। जो चीज़ केवल कुछ इने-गिने कालेज अध्यापकों, विशेष काव्य-प्रेमियों या काव्य के गम्भीर विद्यार्थियों के ही मनोरंजन की सामग्री हो, निश्चय ही उसके विषय में किसी बहस को तूल देना सिर्फ़ आगे आनेवाले युग के ही काम का हो सकता है।

मगर हम कवियों और भावुक लेखकों के लिए तो इस चर्चा को नहीं चला रहे हैं?

मुक्त-छन्द की ओर ध्यान दिया जाने लगा है आधुनिक काल में ही। योरप, अमरीका, बंगाल होती हुई यह 'नयी' पौध हिन्दी-प्रान्त में आयी। हिन्दी में इसका प्रचलित रूप बहुत कुछ रवीन्द्रनाथ ठाकुर का ही ऋणी है—विशेषकर 'रहस्य' भावना से प्रोत्साहित मुक्त-छन्द।*

मगर रवीन्द्रनाथ ने स्वयं इस बात से इनकार किया है कि उनकी 'गीताञ्जलि' के अँग्रेज़ी अनुवाद की शैली अँग्रेज़ी बायबिल से ली गयी है। वे अपनी शैली

* उसमें शायद विवेकानन्दजी का भी असर हम टटोल सकते हैं, विशेषकर निरालाजी के छंदों में।

के उद्गम के विषय में वैदिक मन्त्रों की ओर संकेत करते हैं। यही बात निराला ने 'परिमल' की भूमिका में अपने विषय में लिखी है। निरालाजी का मुक्त-छन्द बहुधा स्वर-प्रधान होता है—अथवा स्वर का प्राधान्य ले उठता है। मात्रिक छन्दों के प्रयोग में स्वर का महत्त्व वे कम नहीं होने देते, उनकी कविता में ओज का एक विशेष कारण यह भी है। निरालाजी के मुक्त-छन्द पूर्ण रूप से भावों से ही न केवल बँधे हुए, बल्कि उन्हीं का आधार लेकर चलते हैं।

मि० हम्बर्ट वुल्फ़ अँग्रेज़ी विश्व-कोष में भाव को ही मुक्त-छन्द का उद्गम बताते हैं। और यह सही है। भाव को ही इस काव्य-प्रकार का पोषक नियम मानकर हम अँग्रेजी बायबिल (जिसका निर्माण-काल १६११ है) के दाऊद और हज़रत सुलेमान के गीतों की काव्यात्मकता को समझ सकते हैं। मुक्त-छन्द की प्राचीनता भारत में वेदों से सिद्ध होती है। वैदिक मन्त्र स्वरोच्चारण के जिन नियमों से हमेशा के लिये बाँध दिये गये हैं, वे उनका मुक्त प्रभाव स्पष्ट घोषित करते हैं।

मगर वस्तुतः मुक्त छन्द आधुनिक युग की ही उपज है, यानी, इस काव्य-'प्रकार' की वृद्धि और उन्नति विदेशों के साहित्यिक इतिहास से ही सम्बन्ध रखती है। यानी, हिन्दी में मुक्त छन्द को अपना पूर्ण रूप प्राप्त करने के लिये योरोपीय और अमरीकी कलाकारों की कला को समझ लेना होगा। विदेशी आधुनिक कवियों के इस अध्ययन से उनकी व्यक्तिगत, मानसिक और सामाजिक परिस्थितियों को ग़ौर से देख लेना होगा। कारण कि—

मूलतः इन कलाकारों की मुक्त छन्द रचनाओं की प्रेरक परिस्थितियाँ स्वस्थ नहीं हैं। अक्सर वे अत्यधिक अस्वस्थ हैं। ये कलाकार बहुधा नाना असंगतियों में पड़कर अपने भावों के उस लोक की ओर अग्रसर हो गये हैं जहाँ उनका उपचेतन अथवा अचेतन मन ही उनकी कला-'प्रकार' का नियामक है। अत्यधिक भावुक, अथवा भावुकता के खोजी बल्कि 'श्रमिक', होकर इन कलाकारों ने अपने ही व्यक्तित्व का मथन इस बेरहमी से किया—अपने ही मन के स्तरों में इस भीषण गम्भीरता से डूबे—कि उनके भाव-लोक, उनका भाषा-सङ्गठन, उनकी शब्द व्यंजना, उनके संकेत व्यापार, स्वरारोहों के अर्थ अद्भुत, चमत्कारपूर्ण—कभी-कभी तो दिव्य भी, मगर हमेशा विशृङ्खल, असम्बद्ध,

अगम्य और रहस्यमय, और अनेकार्थयुक्त हो गये। फ्रांस के इमेजिस्ट (रूपकवादी) कवि रिम्बो और प्रतीकवादी मलार्मे इस दिशा में विशेष महत्व रखते हैं। इटली और रूस में फ्रांसीसी कलाकारों के प्रभाव ने साहित्यिक अराजकवाद का रूप ले लिया, कालान्तर में इन देशों की राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से इन अराजकवादी प्रतीकवादियों में राष्ट्रीयता और देश प्रेम का जोश आ गया—जिसकी कि इन शिथिलप्राय मनीषियों को ज़रूरत भी थी—मगर इस राष्ट्रीय जोश में नीत्शे का 'महापुरुष' वाला व्यक्तिवाद और भौतिक नाशवाद भी शामिल था। इस प्रकार हम देखते हैं कि बीसवीं शताब्दी के पहले और दूसरे दशाओं में ही युद्ध भावना के पोषक अस्वस्थमन कवि योरप में अपने देशों की विडम्बनापूर्ण सामाजिक परिस्थितियों का नक्शा पेश करते हैं। हमारे देश में इसी प्रकार की, मगर सूफ़ी मत से रँगी हुई भावना का नेतृत्व अपना ओजपूर्ण छन्दोबद्ध कविता में इकबाल ने किया। इकबाल धार्मिक व्यक्तिवाद के कवि थे और पूर्ण पुरुषत्व के प्रचारक। रूस में इसी प्रकार मायाकोवस्की फ्रांस की स्त्रैण 'अधोमुख भावुकता' (decadence) का शिष्य होता हुआ भी राष्ट्रीय भविष्यवाद का कवि हुआ। उसकी रचनाएँ ओजपूर्ण, यद्यपि अर्थ में अस्पष्ट, प्रतीकों की असम्बद्ध शृङ्खला होती थी। इटली में इसकी मिसाल फ़ासिस्ट दनन्'ज़ियो है, युद्ध सम्बन्धी प्रतीकों का पक्ष कवि मायाकोवस्की की प्रतिभा का विकास कला-माध्यम से जन-जीवन के कहीं अधिक व्यापक सत्य की खोज का इतिहास हमारे सम्मुख रखता है। क्रान्तिकारी मज़दूर वर्ग के आन्दोलनों से प्राणों का स्वास्थ्य और सम्बल प्राप्त कर उसने अपनी कविता और देश दोनों की मुक्ति साधना में योग दिया। कम्युनिज़्म ने उसके कला-प्रकारों को दुर्जेय शक्ति और उसकी राजनीतिक भावनाओं को अन्तर्दृष्टि का चमत्कार प्रदान किया। हिन्दी में निरालाजी की तुलना कुछ अंशों में मायाकोवस्की से की जा सकती है—विशेषकर उनकी आधुनिकतम कृतियों के रूप में हमें जिस तरह की भाषा और भावों की छाप मिलती है, वह उसी तर्क भरे भाव सम्पुटित समष्टिपूर्ण शैली की मुक्त भूमि पर है, जिस पर मायाकोवस्की की रचनाएँ। निरालाजी के लिये एक देशव्यापी कायापलट की ही ज़रूरत शेष है। अस्तु।

मुक्त-छन्द के कवियों के दो रूप स्त्रैण और पौरुषमय हम अमरीका और इग्लैंड में भी देखते हैं। परुष भावनाओं के सर्वश्रेष्ठ अमरीकी कवि वाल्ट ह्विट्मैन में भी वही एकागिता थी। यह एकागिता उनकी वाणी जहाँ एक ओर स्वभावतः ही ओज लाती थी, वहाँ दूसरी ओर उसे अस्थिर और किंचित अतिरंजित भी कर देती थी। ह्विट्मैन का प्रेरक स्वप्न 'डेमाक्रेसी' (प्रजातन्त्र) था। आज की शासन तथा समाज-व्यवस्था की जटिलताओं और विडम्बनाओं को व्यक्त करने के लिये कवि जिस मुक्त द्वार के लिये आतुर और विकल हुआ, उसकी ओर प्रथम सकेत ह्विट्मैन ने ही किया। लेकिन आधुनिक मुक्त-छन्द की योजना और 'प्रकार' को देखते हुए हम ह्विट्मैन के अँग्रेज़ी-भाषा-भाषियों के युग में और आज के साहित्यिक युग मे ज़मीन आसमान का अन्तर पाते हैं। ह्विट्मैन का मुक्त-छन्द जितना उन्मुक्त था, आज का मुक्त-छन्द उतना ही सपूर्णतः सगठित यानी संयमित वस्तुतः छन्दोबद्ध कविता से अधिक कठिन, साहसापेक्षा और स्वर-व्यजना से पूर्ण कलाप्राण युक्त। यही नहीं, आज की छन्दोबद्ध कविता आज की मुक्त छन्द कविता से अच्छी तरह सबक सीखे बिना अपने पैरों खड़ी नहीं हो सकता। यह कथन अति-व्यापक-सा हो गया है, फिर भी लोक-गीतों की 'कला' से अनुप्रेरित रचनाओं को छोड़कर अन्य लगभग सभी प्रकार की पद्य-रचनाओं के विषय में उपरोक्त कथन सत्य ठहरता है। इसका सबूत हम आडेन और मैकनीस तथा इनके समकालीन सभी कवियों की रचनाओं में देख सकते हैं।

इन आधुनिक कलाकारों के गुरु एज़रा पाउड और टी० एस० इलियट हैं जो अपने पूर्ववर्तियो में अनेक भाषाओं के महाकवियो के ऋणी हैं। अँग्रेज़ी में हॉपकिंस का प्रभाव इन कवियो पर विशेष माना जाता है। फ्रांसीसी प्रतीकवादियों का असर तो सर्वव्यापी था ही। जापानी 'टका' छन्द और प्राचीन चीनी कवियों की वाणी ने भी काफी इन कवियो के प्रयोगों को प्रोत्साहित किया। चित्रकला की नयी नयी विभिन्न प्रणालियों ने भी गहरा असर इन कवियों की शैलियों पर डाला—विशेषकर त्रिकोणवाद, रूपकवाद, परावस्तुवाद (Surrealism) इत्यादि ने। वैदिक ऋचाओं का प्रभाव भी—विशेषकर इलियट और पाउण्ड ने—अपनी रचनाओं में लिया है। जर्नलिज़्म, प्रचार और नारे आदि से भी

इन कवियों ने काफ़ी कुछ सीखा , युद्ध की तैयारियों और वायुयान की प्रगति ने भी कतिपय, विशेषकर इतालवी कवियों की कल्पनाओं में अपनी 'स्पीड' (द्रुतगति) और 'शक्ति' भरी। मगर इसका चलन इधर कुछ कम हो गया है।

इसमें सन्देह नहीं, मुक्त-छन्द जिन बहुत से वादों और प्रणालियों के सहारे चला, उनमें लगभग सभी शीघ्र ही पुराने पड़ते गये। आज फिर काव्य-जगत सरलता, लोक-गीतों की सी सरलता और स्वाभाविक भाव चमत्कार की तरफ़ धीरे धीरे बढ़ रहा है। मुक्त-छन्द ने गद्य की भाषा को बहुत 'पूर्ण' कर दिया, निस्सन्देह; मगर अन्त में अपना रूप इसका, प्रथम तो मानव-हृदय की सामाजिक 'मुक्ति' का द्योतक, दूसरे, नव-शक्ति का सन्देश वाहक होकर सामने आता है।

इसमें जितनी विरोधी भावनाओं और प्रेरणाओं का समावेश हुआ उनका परिष्कार ही मानो मुक्त-छन्द का अन्तिम लक्ष्य था। युग के उपयुक्त यह चीज थी। लोक-प्रिय हुई। प्राणयुक्त हुई। विदेशों में, राष्ट्रीय आन्दोलनों में, इसने भाग लिया। इसने नये सपनों की रूह—काव्य और कथा—(विशेषकर नाटक) साहित्य में फूँकी। साधारण पाठक को कविता की ओर आकृष्ट किया।

आज, एकाएक नहीं कहा जा सकता कि मुक्त छन्द का कार्य पूरा हो गया या कि इसने मानव भावनाओं का कोई अवरुद्ध द्वारा खोला है, जो अब बन्द नहीं होगा। मुक्त छन्द पद्य को गद्य के काफ़ी निकट ले आया है। कवियों और गद्य-लेखकों का सामान्य अन्तर इसने मिटा-सा दिया है। जन-साम्य की-सी एक भावना इसने साहित्य में फैला दी है।

इसमें जो विषमता और रुग्ण चेतना की भावनाएँ थीं, वे मालूम होता है, पूर्ण अभिव्यक्ति पाकर खत्म हो चुकी हैं। आज का मुक्त-छन्द अपेक्षतया अधिक स्वस्थ, बल्कि कहीं-कहीं उत्कृष्ट लोक काव्य की महान सरलता के निकट भी लगता है—विशेषकर जहाँ इसका उपयोग जन-साधारण के लिये गीति अथवा पद्यमय नाटकों में हुआ है।

['हंस', जुलाई, १९४१]

पलाश-वन*

हिन्दी कविता की आधुनिक परम्परा से अलग 'पलाश-वन' का स्थान नहीं, फिर भी यह महत्त्व की बात है कि अपनी अछूती शैली में इस परम्परा को यह एक चरण आगे ले जाती है।

इसकी पृष्ठभूमि पहले हम समझ लें।

हमारे शहरी मध्यवर्गीय जीवन में प्रेम, विलास, मोह, व्यथा, विरह, मिलन, आशा, निराशा, आदि में भ्रमते भावुक यौवन की ये दशाएँ क्या और क्यों हैं? 'पलाश-वन' इसका जवाब नहीं देगा; वह इसकी जलती वास्तविकता में आपको छोड़ देगा। और यही कवि का उत्तर है।

हम पाते हैं, एक थका टूटा बिखरा व्यक्तित्व, सच्ची शान्ति के लिए तड़पता हुआ और अपने संस्कार-निर्देशित पूर्व आदर्शों में जीवन का आधार खोजता और उन्हें समझता-सा हुआ—पर, हमारे आज के शहरी समाज का कोई ईमानदार व्यक्ति उस आधार को अपने जीवन में शान्तिप्रद नहीं पा सकता। वह समाज से अपने आपको अलग, अकेला समझे; या रूढ़ियों की दार्शनिक व्याख्या कर उन्हें 'आत्म-शान्ति' के लिए—धीरे-धीरे अपनाता ही चला जाय, तो वह दूसरी बात...थी, कल तक—मगर आज की राजनैतिक और सामाजिक हलचलें उसके सर पर हैं। इन हलचलों का रूप उसे जल्दी ही अपने जीवन में स्पष्ट करके, उसमें वह कहाँ योग देने जा रहा है, यह समझ लेना होगा। उसी के साथ उसकी गति विधि, वही उसका समस्त सबल, वही उसका जीवन, और उसका निर्वाण; और उसकी शांति। सामाजिक सम्बन्धों का जो सौंदर्य और आकर्षण जीवन के अवरुद्ध द्वार खोलकर व्यक्ति की सब शक्तियों को मुक्त और उल्लास-पूर्ण नहीं करता, एक खुली हँसी की चमक सी उसके अंग अंग में नहीं भरता, वह एक बहुत ग़लत और बीमार चीज़ है।

---

* ले०—नरेन्द्र शर्मा, पृष्ठ-संख्या ७२, मूल्य १।)

समाज में पुराने चाल-ढाल के जो आकर्षण हमें जवानी में अब भी बराबर मोहते हैं, पुराने ढग के हाव-भाव और प्रेम-प्रदर्शन जिनमे कि व्यक्तित्व का खिचाव और बचाव रहता है, जिनमें हम केवल यौवन को देखते हैं, वास्तव में उसकी एक झलक मात्र और उसकी गति नहीं देखते, क्योंकि वह रूढि-सगत लाज और बचाव के परदों में एक लम्बी थका सी देनेवाली आँख-मिचौनी खेलता है—वह सब गुलाम समाज की दयनीय परवशता है। निश्चय, इस खिलवाड़ का फल और अन्त होगा केवल निराशा, और हाय-हाय, 'नियति' और 'छलना' का आविर्भाव, और अन्ततः जीवन में एक गहरी, बहुत गहरी उदासी कि जिसकी तुलना में मृत्यु प्रिय होगी।

आज के यौवन का कवि इस पूरे जजाल से निकल नहीं सका है। अतः इसी व्यथा की विभिन्न दशाओं का खुला हुआ, बहुत स्पष्ट चित्र हमें 'पलाश-वन' में मिलता है।

इसकी कितनी ही कविताएँ चित्त को बहुत उदास बना देती हैं, बहुत उदास।

'प्रवासी के गीत' में जो एक, प्रेम में तपते-सुलगते हृदय की आक्रात कल्पनाएँ थीं, सजीव और दर्दनाक, रूप और सौन्दर्य के आकर्षण की मादक हँसी यानी 'छलना' का जो एक गहरा-घिरा व्यापार था,—उससे मुक्ति किस प्रकार मिल सकेगी और उसका क्या रूप होगा, इसी प्रश्न की गम्भीरता 'पलाश वन' में स्पष्ट हुई है। जीवन के आघातों की श्रृङ्खला में पडे इस प्रेमी सहनशील युवक कवि को प्रेम-निष्ठा और योग द्वारा जो सबल प्राप्त हुआ है, वही अन्तिम निराशाओं में, (जब कवि घबरा उठता है, तब) उसकी रक्षा करता है।

अपने लिए सच्ची शान्ति खोजने—अर्थात् इस आन्तरिक सघर्ष की थकान मिटाने वह 'कूर्माचल' के वन-पर्वत-प्रान्त में पहुँचता है।—और 'कौसानी' में उसकी शान्ति-बल-प्राप्ति का एक उन्मुक्त उद्गार है, जिसमें यह कवि प्रकृति के प्रति कृतज्ञता से विभोर हो उठा है। इसी समय की और भी कविताएँ हैं, 'अल्मोडे की युवती' और 'रानीखेत की रात'। जो झिलमिली रूपराशियों

उसके हृदय का जलता हुआ दीपक बन गयी हैं, उनकी प्रतिमाएँ, लगता है, इस शांति की खोज में भी उसके साथ साथ हैं।

कितनी बार उसने अपने आपको अकेला अनुभव किया है; फिर-फिर अपनी वस्तु-स्थिति को समझने के प्रयास और प्रयत्न में खोया रहा है, और अपनी कठिन कर्तव्य निष्ठा और आत्म-समर्पण का फल बार-बार उसे मिला है—केवल, एक चिर-अस्थिर अनुपमेय आकर्षण, जिसका प्रतिबिम्ब सा ही कुछ अनुभव होता, और जिसका प्राणहर माधुर्य समय की गति में डूबता, और दूर होता जाता है, और जिसकी शेष याद भी फिर अपनी नहीं बनी रहती।

नरेन्द्र को अपनी कविता का लहज़ा इन्हीं माया मोहनियों से प्राप्त हुआ है, जो उसके हृदय पर जादू का असर रखती हैं। वह उनका अङ्ग-भङ्ग निरखता, उनकी उपमाएँ श्रेष्ठ वस्तु-तत्वों से ढूँढकर लाता, और श्रेष्ठ-हर्ष-विमर्षों और रसों की उनमें समष्टि करता है। पन्तजी का असर लोग कहते हैं, कि नरेन्द्र की कविता में है—हाँ, था; और है, किंचित अब भी। उनकी सात्विक कोमलता...की एक छाप। किन्तु भाषा के अपनाव में और मुहाविरे में और उसके संस्कार में, अभिव्यञ्जना की स्वस्थ स्वाभाविकता में, नव कवि का अपना, 'आधुनिक' व्यक्तित्व है। रचना में कवि अपना सामान्य नियम जान पड़ता है—गद्य को ही हृदय की अत्यधिक भावुकता और माधुर्य से सरस करना। भाषा की शुद्ध व्यावहारिकता का न टूटना। मुहाविरे का सौन्दर्य प्रत्येक पृष्ठ पर बोल रहा है। सामयिक पत्रिकाओं के पाठक कवि की इस विशेषता से परिचित हैं। कल्पना का प्रयोग सिर्फ भावों को अधिक सुघर-स्पष्ट करने, उनकी गहराई को दूर तक नापने, और उनकी सच्चाई को व्यक्त करने के लिए होता है। कहीं-कहीं उसका अछूता नयापन, न केवल शब्द, बल्कि वर्णन में दर्शनीय है। (वर्णन-वैचित्र के लिए देखिये—मध्याह्न और 'वासना की देह'; शब्दों में, जैसे—'तारे चूने लगे फूल ज्यों झरते शेफाली से', पीले 'गुलाब-सा...हल्के रङ्ग का हल्दिया चाँद')। पद विन्यास का एक सहज प्रवाह कवि के भावों और विचारों का आइना होता है।

निश्चय है कि विरस और अपाग कुरूपता ऐसी रचना-शैली में स्थान नहीं पा सकते। सुन्दर मधुर और सुसंस्कृत रूप के गुण कवि ने हर तरफ से अपने

अंदर समोए है । उसमें उर्दू अंदाज़ और मुहाविरे की चाशनी, किंचित ब्रजभाषा की सी अनुप्रासपूर्णता, और चीनी लिरिक की-सी (उसका जैसा कुछ रूप अनुवादक-गण हमें समझा सके हैं) गोलाई है। साथ ही उसमें कवि-हृदय की सम्पूर्ण तार्किकता है और इन सबके पीछे प्रेमी कवि व्यक्तित्व की शाश्वत पृष्ठभूमि-अनेक अनूप-रूपा चाँदनी का संसार।

विषयों की विविधता को लेकर भी कवि का विशिष्ट रूप एक लिरिसिस्ट एक गायक का है। इस दिशा में हिन्दी का नव कवि बहुत कुछ सीख सकता है। मगर वह कुछ-इतनी उनकी अपनी चीज़ है, किसी और से अपनाते न बनेगी। उसकी सादगी की सीमा औरों के लिए खतरनाक हो जायेगी। वह कवि के ही गंभीर आंतरिक भावों का रूप है। वह 'साहित्य की भाषा' आधुनिक परंपरा से 'ग्रहण' कर, अपने दिल की चोटों से उसे ढालता है—उसे किसी से उधार नहीं लेता। जिस घरेलू स्वाभाविक सरलता के साथ नरेंद्र ने प्रेम, मिलन और विरह की दुखती टीसों को मुखर किया है, उसकी लोकप्रियता 'पलाश वन' के संग्रह से और बढ़ेगी। निस्संदेह यह नरेंद्र शर्मा की हिन्दी को एक अछूती देन है।

'सतरंगिनी'*

(१)

कवि की पिछली रचनाएँ जिन्हें प्रिय हैं, उन्हें 'सतरंगिनी' विशेष रूप से प्रिय लगेगी।

इसमें कुल पिछली रचनाओं के रंग और झलकियाँ हैं। उतनी चटक और तेज़ नहीं, पर उतनी ही इंगितमय, बल्कि अधिक स्पष्टता से मार्मिक।

क्योंकि, यहाँ बीते वर्षों के नाना राग-विराग पास-पास, एक साथ विहंगम रूप से मौजूद हैं, और मिलकर उन्होंने एक नयी बात पैदा की है। यानी, एक आकार और रूप—अधिक पूर्ण और सार्थक—हमें दिया है कवि के व्यक्तित्व का—जिसको समझने में अब हम अधिक ग़लती नहीं कर सकते।

यह जो कुछ मैंने ऊपर अर्ज़ किया, भूमिका और पृष्ठभूमि है कवि के उस नये व्यक्तित्व की—जो आँधी-पानी और तूफ़ान के बाद एक नये, धीरे-धीरे खुलते हुए आसमान के नीचे, जैसे इन्द्रधनुष की छाया में, उभर-उभर उठा है।

कवि महसूस करता है, देखता और पाता है—

जीवन में नवल तेज।

'उत्तरदायित्व नवल।'...और वह इसको बहुत अच्छी तरह, भरसक, समझने की कोशिश करता है।

यह कोशिश खुद एक संघर्ष है।

(२)

मगर संघर्ष कवि का स्वभाव भी है। उसके जीवन का हठ। यह हठ विनीत है सत्य के समान। इसीलिये उसके अन्तर में विश्वास है, और आशा है, जीवन के प्रति, और जग के प्रति—

---

* सतरंगिनी [कविता-संग्रह] रचयिता—बच्चन, पृष्ठ १९०; मूल्य २॥)।

अश्रु-स्वेद लोहू से
जिसको जब सींच सींच
मनुज बढा लेता है,
अमृत फल देता है।

और उसमें हास है सहज विजय का।

विजय का, जो कि जीवन के सघर्ष में ही निहित है।

धीर और स्थिर है कवि का वह स्वर, जो उसके अनुभवों को व्यक्त करता है—मात्र पर्याप्त शब्दो मे, अति सरलता, स्पष्टता से—

देवि, गया है जोड़ा यह जो
मेरा और तुम्हारा नाता,
नहीं तुम्हारा-मेरा केवल,
जग जीवन से मेल कराता।

दुनिया अपनी जीवन अपना,
सत्य, नहीं केवल मन सपना,
मन सपने-सा इसे बनाने
का, आओ, हम तुम प्रण ठानें।

जैसी हमने पायी दुनिया
आओ, उससे बेहतर छोड़ें,
शुचि सुन्दरतर इसे बनाने
से मुँह अपना कभी न मोड़ें।

क्योंकि नहीं बस इससे नाता
जब तक जीवन-काल हमारा,
खेल कूद पढ, बढ इसमें ही
रहने को है लाल हमारा।

इसकी सरल मार्मिकता को हम अद्भुत कह सकते हैं। पर सत्य से भी अद्भुत कुछ है?

(३)

और जब सत्य को कवि की आत्मा रोमांस में खोजती है, नव-रसों का मूल—तब अपने जीवन में उस सत्य का उसे अन्त नहीं मिलता।

मगर उसे मिलती है रवीन्द्रनाथ की अमर 'उर्वशी'।

और यह लोक कवि के हृदय में अनन्त सजातीय तथा विरोधी गुणों के सहसा सम्मिलित स्पन्दन से विह्वल हो उठता है—कवि उसको कल्पना के राग-रंग से रूप और आकार देने का प्रयत्न करता है—और, कीट्स के शब्दों में 'खुल पड़ते हैं जादू के वातायन......'!

कल्पना के वैभव-लोक की यह झाँकी भी सत्य है। क्योंकि यह हमारे जीवन की उमड़ती-घुमड़ती, अनवरत संघर्ष-रत आशाओं और आकांक्षाओं का सत्य है।

कवि स्वभावतः ही इस लोक को बहुधा—और रोमांस की परिसीमा में उत्तम भी है यह शायद—नारी की कल्पना में भी सीमित कर देता है।

मगर इससे जीवन की खुली सुलगती वास्तविकता में कोई अन्तर नहीं आता।

बल्कि जब कवि की दृष्टि अपने व्यक्ति के ही नहीं, बल्कि दिन-रात संघर्ष में जुटे मानव के पूरे समाज के, उसके इस अहर्निश संघर्ष के रोमांस से चमत्कृत हो चुकती है, तब यूँ ही गुम्फित राग रंग रंजित आकुल और तृषित भावनाएँ उसकी रचनाओं के लिये स्वानुभव के दृढ़ आधार का काम देती हैं।

'सतरंगिनी' में 'नागिन' शीर्षक कविता के विषय में मैं सिर्फ़ यही कहूँगा कि यह पूरा सेक्शन मैंने उसी को ध्यान में रखकर लिखा है।

× × ×

और भी अनेक सुन्दर रचनाएँ, गीत, इस संग्रह में हैं—जैसे 'जुगनू', 'मयूरी', 'अँधेरे का दीपक', 'जो बीत गयी', 'निर्माण', 'तूफ़ान', 'तुम नहीं हो', 'कौन हो तुम', 'तुम गा दो' आदि।

इनकी मोहकता, इनका सौन्दर्य, हमें अपरिचित नहीं, इसलिये उनसे उद्धरण का स्थान और उन पर बहस की आवश्यकता इस छोटे-से रिव्यू में नहीं।

['नया साहित्य', भाग तीन, १९४६]

अपन रोटी, अपना राज !

(१)

बच्चन की शैली का विकास सन् '३० से ही हमारे साधारण हिन्दी पाठक की सुरुचि की प्रगति का मापदण्ड रहा है।

कला-प्रकार की दृष्टि से 'बगाल का काल'* हिन्दी में नयी-सी चीज़ है।

परिचित गद्य, पद्य, वार्ता आदि का कविता में सोद्देश्य कलात्मक प्रयोग का परोक्ष प्रभाव ही नहीं, बच्चन ने इस प्रबन्ध के मुक्त-छन्द में पन्त का मूर्त भावानुगमन और निराला का आडम्बर-रहित परुष-प्रवाह अपनाकर, अपनी लिरिक शैली को—जनता के राष्ट्रीय नारों और गीतों से भी लाभ उठाते हुए—पहले से अधिक सूक्ष्म बनाने की कोशिश की है।

फलतः उनकी सुष्ठ भाषा खड़ी बोली के लोक-व्यवहृत हिन्दी रूप के बहुत निकट आ गयी है।

(२)

संस्कृत के अलावा, फ्रेंच शब्दों और अंग्रेज़ी वाक्यों के कलात्मक सफल प्रयोग के उदाहरण पृष्ठ १४, २२, २४ और ४३ में मिलेंगे—विशेषकर फ्रांसीसी इनकलाबियों के लिये फ्रेंच शब्द 'एँलो !' (चलो !) उल्लेखनीय है।

पर—वे ही फ्रांसीसी पृष्ठ ४६, ५० पर अँग्रेज़ी वाक्यों में अपना बोझ क्यों प्रकट करते हैं !! यह दोष अक्षम्य है।

संस्कृत श्लोक (पृष्ठ ३२, ५८) कविता की भाव-धारा से ही निःसृत और एकदम नैसर्गिक लगते हैं।

---

* 'बंगाल का काल'—रचयिता, बच्चन , प्रकाशित मार्च, १९४६ , मूल्य १), पृष्ठ संख्या ६५। छपाई सुन्दर।

कवि ने ठेठ मुहावरों और कई खालिस अरबी-फ़ारसी शब्दों को अपनी शैली में कामयाबी से खपाया है। जैसे, 'बरसो राम धड़ाधड़ रोटी' (पृष्ठ २०), 'महा लठ' (पृष्ठ २५), 'बेदम के बूदम' (पृष्ठ ५४), 'गौग़ा' (पृष्ठ ४५), 'पज़मुर्दा' (पृष्ठ ५४) आदि। [ताहम कुछ शब्दों और मुहावरों का ग़लत प्रयोग हो जाने दिया गया है ; जैसे, 'कोता क़िस्सा' (पृष्ठ १९), 'हुए इकट्ठा ठट्ठिम ठट्ठा' (पृष्ठ ४५-६), 'लाख हा' (पृष्ठ ६१)।]

शैली को शानदार बनाने के लिए कवि ने पुनरुक्ति का लाक्षणिक प्रयोग ख़ूब किया है, स्वरारोह पर भी पहले से अधिक ध्यान दिया है।

यह बता देना भी ज़रूरी है कि 'बंगाल के काल' के मार्मिक अंश वास्तव में उसके चौंकानेवाले अंश नहीं, बल्कि वे अंश हैं जहाँ कवि ने अपनी रूढ़ शैली के मिश्रण से मुक्त-छन्द को प्रभावकारी बनाया है।

(३)

इस रचना को दो-तीन बार बहुत ध्यान से अगर पढ़ें तो हमें लगेगा कि कवि की भावनाएँ अकाल की वास्तविक स्थिति के गहरे विश्लेषण का पता नहीं देती।

'अपनी रोटी, अपना राज !' यह सीधा, सामयिक नारा बहुत भाव-मंथन के बाद निकला है।

फिर भी, इससे सम्बन्धित बातों पर सही ज़ोर, और यथा स्थान, नहीं दिया जा सका।

× × ×

अकाल की वस्तु-स्थिति में बच्चन ने तीन चीज़ों को उभारा है—

१—शासक वर्ग, धर्म-व्यवसायी और धनी शोषकवर्ग का पतन,

२—इनके विरुद्ध एका करके संघर्ष करने की ज़रूरत;

३—और यह कि रोटी की लड़ाई आज़ादी की लड़ाई से सम्बन्धित है।

बच्चन कहते हैं कि 'बास्टील' पर सब मिलकर हमला करो—उस बास्टील पर, जो शासन, धर्म और पूँजी की प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने समाज में खड़ा कर रखा है।

मगर इस भीषण 'बास्टील' का रूप वह पूरी पूरी तरह स्पष्ट नहीं कर प ये।

कलात्मक प्रभाव के साथ इसकी भीषणता दिखाने के लिये अपने समय से डेढ सौ साल पीछे, दूर, जाना शायद ज़रूरी नहीं था।

प्रस्तुत से कुछ-कुछ कतराना, प्रतिक्रिया को व्यजना से ही इगित करना, जन-शक्ति की आवाज़ सघर्ष के बीच से न उठा सकना, बल्कि इससे ही उसका आह्वान (चाहे जितना स्पष्ट) सुनना—भाव और कल्पना की ऐसी वृत्ति अनिवार्यतः उस मध्यवर्गी कलाकार की है जो नयी तस्वीरों को पुराने आइनों में लगाकर देखने के लिये वाध्य है। मगर यह तभी तक और उसी हद तक है, जब तक और जहाँ तक आज मध्यवर्गी कला अपना भविष्य श्रमिक और किसान के संघर्षों के साथ नहीं देखती।

आश्चर्य की बात नहीं है अगर 'बगाल का काल' जैसी महत्त्वपूर्ण कृति भी अपने सामाजिक या 'राष्ट्रीय' दृष्टिकोण को एकागी बन जाने से बचा न सकी। मुसलमान, जो बगाल के अकाल में हिन्दुओं की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में मरे,—उनका, उनकी लोक-सस्कृति का चित्र कविता में कहीं सजीव नहीं होता।

इसी एकान्त मध्यवर्गीय भाव भूमि पर स्थित होने के कारण ही शायद, कवि राजमहल पर आक्रमण करनेवाले फ्रासीसी इनकलाबियों को एक भद्दी और 'ग़लत' उपमा दे देता है,—बलात्कार करनवालो से (पृष्ठ ४८)। वह भावना यद्यपि विलासी राज-परिवार का मनःस्थिति में समझनी चाहिये, पर प्रथम तो कवि का दृष्टिकोण स'दग्ध-सा लगता है, अगर ऐसा न भी मानें, फिर भी आवश्यकता पैदा होती है कि इस चित्रण के बाद इनकलाबियों का वास्तविक स्वस्थ रूप और कार्य, जो हम आज समझते हैं, पूर्वोक्त उपमा की छाया से अलग, स्पष्ट कर दिया जाता।

(४)

इन कुछ त्रुटियों के बावजूद 'बंगाल का काल' एक महत्त्वपूर्ण कवि की महत्त्वपूर्ण रचना है।

इसमें हम बाहर की दुनिया के, सुख-दुख, समस्याओं और संघर्षों को

अपने भाव और अनुभूति में लेने के कवि के गम्भीर प्रयास का एक खुला हुआ, नया, जन-ग्राह्य रूप देखते हैं।

श्री आर० एन० देव कृत आकर्षक कवर-डिज़ाइन कविता-सा ही सादा और व्यंजनापूर्ण है।

'किताब की बिक्री से जो लेखकांश (रॉयल्टी) मिलेगा, वह अकाल-पीड़ित बच्चों के सहायतार्थ भेंट कर दिया जायगा।'—

हाली के लफ़्ज़ों में—उम्मीद है कि दर्द फैलेगा और सच चमकेगा।

['नया साहित्य', भाग पाँच, १९४७]

सात आधुनिक हिन्दी कवि

प्रयोग ही 'तार सप्तक'* का नारा है।

इस दिशा में 'तार सप्तक' की क्या विशेषता है? एकदम स्पष्ट कहा जाय, तो कोई ख़ास नहीं। कारण इसके दो हैं।

एक तो यह कि मौलिक रूप से 'तार सप्तक' के प्रयोग अन्यत्र कई और कवियों के, इससे काफ़ी पहले के संग्रहों में मिल जायँगे: प्रथमतः निराला में ही—न केवल तार सप्तक' के लगभग सभी प्रयोग बल्कि उससे भी और कहीं अधिक, कहीं अधिक, दूसरे, पन्तजी में, उनकी अतुकान्त और मुक्त-छन्द की कविताओं में—लगाकर 'ग्रन्थि' से 'युगवाणी' और ग्राम्या' तक, इसको छोड़ते हुए कि उनकी 'ज्योत्स्ना' के कुछ गद्य काव्यांश वस्तुतः कविता के ही मूल अंग हैं। फिर, नरेन्द्र शर्मा ने भी अपनी कतिपय वर्णात्मक तुकान्त मुक्त-छन्द की कविताओं में अपनी एक विशिष्ट शैली का परिचय दिया है (मसलन 'वासना की देह' में—'पलाश-वन'), यद्यपि वह उनकी सामान्य धारा नहीं। उनकी एक कविता 'बटनहोल' भी पाठकों को अपरिचित न होगी।

दूसरा कारण जो 'तार सप्तक' के प्रयोगों को न्यून करता है, यह कि वे बहुत कम सफल हुए हैं, यहाँ सिवाय अज्ञेय और रामविलास के। एक सीमित दिशा में गिरिजाकुमार के प्रयोगों की सफलता हिन्दी में एक सुन्दर चीज़ है, निःसंदेह, पर वास्तव में वह भी इतनी मौलिक नहीं जितनी लगती है ऊपर से देखने में। माचवे के बिम्ब चित्र कवि की ओर से काफ़ी दायित्वहीनता का परिचय देते हैं। रामविलास के प्रयोग eclectic हैं—और अधिकांश तो इसीलिये सफल हैं, और कुछ इस कारण, कि कवि ने प्रयोगों को 'प्रयोग' के नाते बहुत कम, शायद न-कुछ के बराबर, महत्व दिया है: कविता की भाव-भूमि ने ही स्वयं

---

* कविता-संग्रह—संग्रहीत कविगण तथा प्रकाशक: गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजाकुमार माथुर, रामविलास शर्मा, 'अज्ञेय'। सम्पादक: 'अज्ञेय'।

अपने छन्दों के उपकरण जुटवा लिये हैं। गजानन मुक्तिबोध की अभिव्यक्ति उनके कला-प्रकारों के अनुरूप सूक्ष्म और पुष्ट नहीं है।

कविता की सात दुनियाओं में रहनेवाले इन सातों पद्यकारों में आपस में प्रत्येक सम्भव प्रकार का मतभेद है : ये आपस में सहमत हैं तो केवल इस पर कि कविता प्रयोग का विषय है। और ये सभी 'काव्य के सत्य' के अन्वेषी हैं, 'सभी अभी उस परम-तत्व की खोज में ही लगे हैं, जिसे पा लेने पर कसौटी की ज़रूरत नहीं रहती, बल्कि जो कसौटी की ही कसौटी हो जाता है।' (भूमिका)। पर रामविलास तो साफ़ अपने वक्तव्य में कहते हैं : 'कविता में शाश्वत सत्यों की मैंने खोज की हो, यह भी दिल पर हाथ रखकर नहीं कह सकता'। और भारतभूषण अग्रवाल के शब्द हैं : 'यह बात ज़ोर देकर कहना चाहता हूँ कि कम-से-कम मुझे मेरी कविता ने भावों का उत्थान (Sublimation) नहीं दिया।' गिरिजाकुमार माथुर का भी पहला वाक्य है : 'कविता में विषय से अधिक टेकनीक पर ध्यान दिया है।" प्रभाकर माचवे स्पष्ट अपने को बिम्बवादी कहते हैं, और बिम्बचित्रण में कवि का दायित्व गम्भीर 'अन्वेषण' को कहाँ, कैसे, स्थान देगा? नेमिचन्द्र के अन्दर एक मानसिक संघर्ष है अवश्य, पर उसे सुलझाने का सही मार्ग उनके शब्दों में यही है कि 'सामूहिक प्रयत्न द्वारा उनका समाधान' हो—न कि परम तत्व की खोज। ये भारी शब्द हैं, इस प्रसंग में आकर अनायास हल्के हो जाते हैं।

× × ×

अस्तु, कैसी भाव-भूमि हमें मिलती है इन कवियों में?

गजानन मुक्तिबोध अपनी 'आन्तरिक विनष्ट शान्ति और शारीरिक ध्वंस' के ऊपर 'व्यक्तिवाद का कवच' पहने अपने घोर मानसिक द्वन्द्व से जूझ रहे हैं—

दिन के बुखार
रात्रि की मृत्यु
के बाद हृदय का दुःख नर्क।
दब चुकी जो मर चुकी है आत्मा

खत्म जो हो ही गयी आकांक्षा,
व्यक्ति में व्यक्तित्व के खँडहर।

आन्तरिक जीवन में न स्नेह है, न रोष है, न ग्लानि। आत्मा में गर्मी, न मधुरता, न आत्मविश्वास। कवि पूछता है—

कर सको घृणा
क्या इतना
रखते हो अखण्ड तुम प्रेम ?

कवि की मान्यताएँ नकारात्मक हो गयी हैं। 'मृत्यु और कवि', 'नाशदेवता', और 'सृजन क्षण'—इसके उदाहरण हैं। जीवन आयेगा तो नाश के द्वारा, नाश के बाद। अतः कवि उसकी वन्दना करता है—

मेरे सिर पर एक पैर रख
नाप तीन जग तू असीम बन।

कवि के उद्गार 'पूँजीवादी समाज के प्रति' भी इसीलिये छन्दोबद्ध हो उठते हैं—

तू है मरण तू है रिक्त, तू है व्यर्थ
तेरा ध्वंस केवल एक तेरा अर्थ

अज्ञेय को लीजिए जो अपने चारों ओर वर्जनाओं का एक संसार देखता है। वह घोषित करता है कि उसका व्यक्तित्व उस सबको परास्त कर देगा, क्षार-क्षार! तब वही 'ध्वस्त गौरव का पथ' उसका पथ होगा 'शेष हीन पथ वह जिस पर एक दृढ पैर का ही स्थान है और वह दृढ पैर मेरा है।' कवि पूछता है, कौन हूँ मैं? 'तेरा दीन-दुःखी पद-दलित, पराजित, आज जो कि क्रुद्ध सर्प से अतीत का जगा 'मैं' से हम' हो गया।'

यह 'हम' जनता का 'हम' नहीं, व्यक्ति का अपने 'जाग्रत अतीत' से प्राप्त 'हम' है।

जो कुछ व्यक्ति के अन्दर है, व्यक्ति के साथ है। इस कवि-व्यक्ति की समस्याएँ अपने छाया-जाल में जीवन के सभी दृश्य-अदृश्य को घेर लेती हैं। एक उषाकाल में कवि जो कुछ देख रहा है, उसे लक्ष्य कर कहता है—

मैं हूँ वे सब वे सब मुझमें जीवित—
मेरे कारण अवगत—मेरे चेतन में अस्तित्व-प्राप्त !

कवि उस सत्य-रूप से आत्मसात हो जाना चाहता है जो उसकी 'पुञ्जीकृत' कल्पना की स्वप्नमूर्त प्रतिमा' है, जिसे 'उर धारे' 'दुर्निवार चला जा रहा है कवि युवा निज पथपर' । 'वह छवि, दीप्तियुक्त, छायामय—' कवि का 'जीवन-कुहासा भेद उगा हुआ तारा' अपनी दूरी से इतर सब कुछ वंचना बना देती है । इसी लिये अपने भावुक जगत—जहाँ विश्व की सारी शोभा, सारी शक्ति, सारी ममता कवि के अपने 'प्राणाधार' के समक्ष समर्पित है—के बाहर उसका स्वर व्यंग पूर्ण और कटु हो जाता है : 'कविते ! कुलिश-सी कटु-क्लिष्ट' 'असुर दुर्दम दैत्य कवि ।'

गिरिजाकुमार माथुर की कविताओं का मुख्य आधार भी प्रेम है—प्रेम की स्मृतियाँ, प्रस्तुत जीवन में प्रेम के मधुरतम क्षणों का अतीत । कोमल...एक शब्द में 'कोमल' ही उनके भाव-जगत का विशेषण है । भाव, वातावरण, वर्ण, शब्द, स्वर, सब कोमल हैं । स्पष्ट रेखाओं से अंकित, चटक रंगों से भरे चित्र केवल वे हैं जिनका सम्बन्ध कवि के स्वप्नों, उनकी निजी दुनिया से नहीं, बल्कि रामायण महाभारत अथवा प्राचीन इतिहास की कथाओं से है । प्रस्तुत के सत्य की स्पष्टता कवि को ग्राह्य नहीं, वह उसको अपने काव्य के उपयुक्त नहीं पाता, उसका कवि-मन उस ओर देखता भी नहीं । देखता भी है तो उसको दूर, पीछे, इतिहास में ले जाकर अभिव्यंजनात्मक आलम्बनों में ।

—क्योंकि उसकी अपनी भावुकता का खज़ाना भी तो पीछे, अतीत में ही है : उसका आज तो कल और परसों की स्मृतियाँ मात्र है । आज के हृदय में तो उदासी है, थकावट है, सूनापन है, खोई हुई-सी परछाइयाँ हैं, धीमी-धीमी बातों की यादें हैं, गीत-कथा का अधूरापन है ।

क्यों न कवि का अन्तर व्यथित होकर कह उठे—

मैं शुरू हुआ मिटने की सीमा-रेखा पर,
रोने में था आरंभ, किंतु गीतों में मेरा अंत हुआ !...
मैं एक अधूरी कथा
कला का मरण-गीत रोने आया

कवि कहता है कि 'है अत हुआ जाता मेरा इन अतहीन इतिहासों में।'

प्रभाकर माचवे को किसी सत्य पर आस्था, किसी तथ्य पर विश्वास, किसी दर्शन के लिये आग्रह नहीं। उनकी ज्ञान की झोली में कुछ है तो 'सशय के दो कण।' अन्यथा रूखे से व्यग, फीकी सी कटुता। क्योंकि उसके तले में है—एक ऊब और उदासी का भाव। प्रकृति-चित्रण ('बसतागमन', 'मेघमल्लार', 'दृष्टि', काशी के घाट पर') जैसे उसी से भाग निकलने का उपक्रम हो, पलायन। और इसी कारण उसकी अभिव्यक्ति की शैलियों में सामान्यतः कला-पक्ष की ओर से उदासीनता मिलती है।

'काशी के घाट पर' में काफ़ी भावुक वातावरण के बीच कवि प्रेमी का यह स्नेहपूर्ण अनुनय कि 'आ भर लूँ हिय में तुझे मीत...' केवल एक कटु व्यग बन जाता है जब उसके बाद ये पक्तियाँ आती हैं—

> एकान्त सत्य बहते रहना...
> सुधि सम्बल ले चिर एकाकी
> बस सफर-सफर......

एक दूसरी कविता में कवि कहता है—

> यह सब एक विराट व्यग है, मैं हूँ सच, औ चा की प्याली!

मरघट का दृश्य दिखाकर कापालिक कहता है—

> सुन्दर सत्य तुम्हारा, वैसा
> यही असुन्दर सत्य हमारा।
> परवशता है।...
> सिकता, सिकता...केवल सिकता,
> किसने पाया है रे 'जीवन'?...
> कापालिक केवल हँसता है।

'बीसवीं सदी' में कवि को किसी भी सघर्ष में समाज के नव-निर्माण के बीज नहीं मिलते! वह शिकायतन पूछता है—

> जब रूस विश्व के साम्य-राज्य
> की करता इतनी बड़ी बात

तब भारत में भी क्यों अनाज
भेजा ' यह तो है सिर्फ स्वार्थ !
बीसवीं सदी ने यही दिया ?

नेमिचन्द्र और भारतभूषण अग्रवाल अपने मानसिक संघर्षों से मुक्त होने के लिये जनता की शक्तियों के साथ आना चाहते हैं : और भावुकता में उस ओर बढने भी हैं, मगर अपनी अन्दरूनी उलझनों को सुलझा नहीं सके हैं। अतः बार-बार संशय शैथिल्य और एकाकीपन का विषाद किसी-न-किसी बहाने उनको घेर लेता है—विशेषकर नेमिचन्द्र को, क्योंकि वह अपेक्षाकृत अपने भावुक कवि-व्यक्तित्व के प्रति अधिक सचेत भी हैं।

यह सर्वांशतः सही नहीं कि सर्वहारा प्रगति के उद्दाम नव उन्माद से बेचैन' है,* पर इस विचार से कवि को पर्याप्त आवेश और उत्साह मिला है। 'वह भीषण प्रभा का लाल पावन रंग—तड़पता विद्रोह से अस्थिर सितारा' अपने पथ-प्रदर्शक के रूप में देखता है। फिर भी उसकी राह सूनी, अकेली, पत्थरों की राह क्यों रहती है ? और वह पत्थरों की वज्र निर्ममता का, और उसके ठोकर खाकर निजी सुख दुखों के कल्पना-खिलौनों के टूटने का, गिला क्यों करता है ? उत्तर उनकी एक दूसरी कविता में है—

किन्तु पथ-दर्शक
विवश मैं हार जाता हूँ भयंकर मौन से,
बेमाप अपने प्राण में छाये हुए एकान्त से,
सतत निर्वासित हृदय से !

तिरस्कृत व्यक्तित्व के
थोथे असंगत दर्प ने मन की
सहज अनजान स्वाभाविक अनावृत धार को
कर दिया है कुंठित—......
है नहीं बस शक्ति ही सहयोग की

* सन् १९४० और ४२-४३ के बीच। (लेखक)

उन विविध गतिमय प्राणमय
सचलित तत्त्वों से किसी सम्बन्ध की,
कुछ स्वतः स्फूर्त सजीव विनिमय की—
इसलिये ओ मार्गदर्शक
आज मैं बस व्यर्थ हूँ
सुनसान में निर्जन खड़े ऊँचे महल सा !

कवि के जीवन में व्यर्थता का यह भाव पैदा होना स्वाभाविक है। केवल भावुक कल्पना के माध्यम से ही समाज के प्राणमय तत्वों से व्यक्ति का सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकता है ? अपने चारों ओर के समाज की समस्याओं को अपनी समस्या बनाकर, उसके संघर्ष को अपना संघर्ष बनाकर ही तो हम उसके विविध गतिमय प्राणमय सचलित तत्त्वों को अपने अन्दर अनुभव कर सकेंगे। वर्ना यों तो कोई भी 'सजीव विनिमय' 'स्वतः स्फूर्त' न होगा। उसकी आशा करना सचमुच अपने आपको व्यर्थ निर्जन सूनसान में खड़ा करना होगा। अंतिम कविता 'उन्मुक्त' में 'समता की सुदूर रेखाओं' और ('जीवन से वृथा दंभ' मिटने पर) नवयुग के समारम्भ होने की बातें हैं। भावों का सुन्दर आवेश है, रोमांटिक।

भारत भूषण ने अपने कवि-कार्य को बड़ी सुगमता से दो श्रेणियों में बाँट दिया है—सामाजिक-राजनीति और भावुक। पहली श्रेणी का पद्य अधिकांश गद्य ही है, जिसे छन्द मे भर दिया गया है। दूसरी कविता में कुछ कविता भी आती है। 'अपने कवि से' पढते समय नहीं मालूम होता कि हम उलझा हुआ-सा गद्य पढ़ रहे हैं अथवा पद्य, नीरस, क्लिष्ट। इसी प्रकार 'सीमाएँ : आत्म स्वीकृति' और 'मसूरी के प्रति' हृदय को बिलकुल स्पर्श नहीं करते। कितने ही पदों पर तो कविता होने का सन्देह भी नहीं होता। किन्तु पूर्वोक्त 'कविता' के, मसलन, इस अंश, जन्म जिस परिवार में मैंने लिया है, जिस तरह की परिस्थितियों से यहाँ तक आ सकी है ज़िन्दगी की सड़क मेरी,' इत्यादि, की तुलना इन पंक्तियों से कीजिये—

फूटा प्रभात, फूटा विहान
छूटे दिनकर के शर, ज्यों छवि के वह्नि बाण

आलोकित जिनसे धरा
प्रस्फुटित पुष्पों के प्रज्वलित दीप,
लौ भरे सीप

अथवा 'अपने गीतों की प्रतिमे' को कवि के इस सम्बोधन से :—

मैं विस्मित हूँ : आकर्षण का वह लघु अंकुर
किस भाँति आज बन गया अचानक अमर लता...

हम देखते हैं कि कवि अपनी भावनाओं के एक पक्ष के प्रति ईमानदार नहीं है। ऐसा क्यों है? इस दायित्वहीनता का प्रभाव उसके दूसरे, भावुक पक्ष पर भी पड़ा है। उसकी विदा-सम्बन्धी दोनों कविताओं (नं० ९, १०) में भाव अपनी मर्यादा नहीं रख सके हैं। इसमें अभिव्यक्ति का भी दोष है। जहाँ कवि ने भावनाओं के प्रखर सत्य का सहारा लिया है, कोरी भावुकता का नहीं, वहाँ हमें कोई शिकायत नहीं रहती, जैसे, 'जागते रहो,' 'प्रात की प्रत्यूष वेला,' 'फूटा प्रभात' और 'पथहीन' के बारे में।

रामविलास की संकलित कविताओं में उनका व्यक्तित्व काफ़ी साफ़ उभर आता है, यद्यपि चयन का क्रम कुछ इस प्रकार रखा है कि रामविलास का नया और अधिक स्वस्थ, पुरुष, और मुक्त दृढ स्वर कुछ बिखर कर और कुछ बीच में आता है, अन्त की कविताएँ एक हलकी सी व्यथा और करुणा की छाया मन पर छोड़ जाती हैं। कविताएँ इस क्रम से नहीं रखी गयीं कि हम उनमें देख पाते, किस प्रकार कवि के भाव-जगत का विस्तार बढता गया, किस प्रकार वह हमारे आज के संघर्षमय जीवन का अर्थ हमारे लिये उत्तरोत्तर स्पष्ट करता गया है—अपने सशक्त स्वरों में, अपनी सत्यमूलक कल्पना के वास्तव-चित्रों में, अपने स्वस्थ पुरुष दृष्टिकोण में। कवि का 'मैं' उसके सामूहिक अपनापे में खो गया है। चयन में पहली कविता किसान के कार्यक्षेत्र पर है —'काटनी है नये साल फागुन में फसल जो क्रान्ति की।' अवधी ग्राम जीवन के कुछ अनुपम चित्र हैं—त्रुटिहीन, गतिमय, सरस अतुकान्त छन्दों में : चित्र, जिनमें ग्रामीण वायुमण्डल बोल उठा है, जिनमें यत्र-तत्र अनायास ही व्यवहृत अवधी शब्द हमें घटनास्थल पर बरबस खींच ले जाते हैं : जहाँ प्रत्यूष के पूर्व बरगद के नीचे

महफ़िल जमी है, घुँघरू की छुम-छुम पर तबला ठनक रहा है, इत्र की गहरी गंध हवा में उड़ रही है, दारू का दौर पर दौर चल रहा है। और

कहते हैं स्वामी जो थे इस भूमि के
हत्यारों से वे अकाल मारे गये।
सीत-सीत करती बयार है बह रही,
पौ फटने में अभी पहर भर देर है।
बरगद से कुछ दूरी पर जो दीखता
ऊँचा-सा टीला, उस पर एकत्र हो,
ऊँचा मुँह कर देख डूबता चन्द्रमा
हुआ-हुआ करते सियार हैं बोलते।

'कतकी का मेला' ले लीजिये। या 'शारदीया' :

सोना ही सोना छाया आकाश में
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसा ताया हुआ,
भरे ज्वार के भुट्टे पककर झुक गये।
'गला-गला' कर हाँक रही गुफना लिये,
दाने चुगती हुई गलरियों को खड़ी,
सोने से भी निखरा जिसका रंग है,
भरी जवानी जिसकी पककर झुक गयी।

इसी प्रकार 'सिलहार' की निर्दय वास्तविकता का चित्र एक बार देखकर भुलाया नहीं जा सकता।

'चाँदनी' और 'समुद्र के किनारे' में दो तरह के चित्र हैं, मगर मूक-भावों की पृष्ठभूमि एक है। चित्रण वर्णन, भाव और विभाव, कोमल, करुणा और दृढ़ आशा के ताने-बाने के साथ मिलकर मन को सहज ही अपने स्वस्थ सौन्दर्य में उद्वेलित करते हैं।

फिर, रामविलास ने हमारे घुटनियों चलने के दिनों की यादों को आज के जीवन के नारों से खुले-लड़कौने व्यंग के साथ जिस प्रकार अनूठे ढंग से एक

रस किया है, वह 'सत्य शिव सुन्दरम्' की लोकप्रिय कविता में देखी जा सकती है। इसका आनन्द कुछ ज़बानी ही सुन सुनाकर लिया जा सकता है; और यह इसकी आश्चर्य-जनक सहज-सफलता का अतिरिक्त प्रमाण है।

'गुरुदेव की पुण्य भूमि' एक सामयिक कविता है, बंगाल के अकाल पर। हिन्दी में इस विषय पर लिखी गयी श्रेष्ठ कविताओं में इसकी गिनती होगी, 'कविता' से कुछ अधिक है यह चीज़: यह देश भक्तों को एक सच्चे भारतीय कवि का आह्वान है। शब्दों में समय की पुकार है, छन्द और स्वर की गूँज ही नहीं। यह छपने, पढ़ने, सुनने की ही चीज़ नहीं—अपनी कविता के माध्यम से एक सच्चा कवि राष्ट्र को कर्तव्य पथ पर ललकार रहा है। इस रचना में भी कवि की कला भावों के क्रमशः उठान में, एक 'क्लाइमेक्स' तक पहुँचाने में है। आंशिक उद्धरण पूरी कविता के प्रति अन्याय होगा।

अन्य कविताओं में मुख्य 'कवि,' 'दारा-शिकोह,' 'किसान कवि और उसका पुत्र' है। 'हड्डियों का ताप,' 'कलियुग' आदि, मुक्त-छन्द के मार्मिक पद्य हैं जो प्रयोग से बढ़कर कविता भी हैं।

'कवि' में पदों की गम्भीर सयत गति, विशेषणों और उपमाओं का तुला हुआ मार्मिक प्रयोग, प्रत्येक स्टैंजा में भाव भूमि को लेकर सहज कुशलता से वातावरण का क्रमशः परिवर्तन और फिर उसी आधुनिक कवि कुल-गुरु की संस्कृतमयी सार-गर्भित शैली में उसी की भाव-धारा के अनुरूप, उसी की कल्पना से चमत्कार उधार लेते हुए, उसी के समक्ष, योग्य रूप में यह सुन्दर काव्य-निवेदन समर्पित है, जिसको इस कविता में सम्बोधन किया गया है। हम सब जानते हैं कि वह—निरालाजी हैं।

'किसान कवि और उसका पुत्र' स्पष्ट ही स्व० बलभद्रजी और बुद्धिभद्रजी दीक्षित की स्मृति में व्यक्त करुण उद्गार हैं जो बहुत मार्मिक प्रकृति-चित्रण की पृष्ठ-भूमि में प्रकट हुए हैं, जिनके कारण यह निधनता और भी करुणोत्पादक हो जाती है, किन्तु कवि का स्वस्थ दृष्टिकोण उसे चेताता है—

बँध न सकेगा लघु सीमाओं में लघु जीवन
लघु जीवन से अमर बनेगा बहु-जन-जीवन।

आज यही विश्वास, क्षुद्र है जीवन चचल ,
अनजानी है राह , यही साहस है सबल ।
यह मानव का हृदय क्षुद्र इस्पात नहीं है ।
भय से सिहर उठे वह तरु का पात नहीं है ।

[नया साहित्य, भाग एक, १६४६]

———

पहाड़ी की कहानी-कला : 'सफ़र'*

कहानियों के शौकीन पहाड़ी को जानते तो हैं, पर उनकी यह आम धारणा, कि वे समाज से विद्रोह करते हैं, गलत है, क्योंकि 'सफ़र' और 'यथार्थवादी रोमांस' दोनों को ध्यान से पढने पर कहीं भी इसका सबूत नहीं मिलता। लेखक स्वयं कहता है— नग्न चीज़ वैसे बीभत्स लगती है, लेकिन मुँह छिपाकर चलना भी एक नैतिक अपराध होगा। इसीलिये व्यक्ति से अधिक समाज का सवाल मेरे आगे रहा है।.. किंतु हमारा एक समाज है। उसमें गृहस्थी एक आदरणीय संस्था है।' (दो शब्द)

कहानियों में ही देखिये—'नलिनी! समाज में एक अच्छे गृहस्थ के लिये तुमको तैयार होना है, वही तुम निभाना।.. तुम्हारा वही स्थान है, अपनी खुशी गमी, दुःख-वेदना के आगे समाज की रक्षा एक जरूरत है।'

लेकिन नलिनी या और एकाध पात्र, अगर समाज के बन्धनों को अन्त में ठुकरा देते हैं तो वह कोई लेखक का आदर्श नहीं उपस्थित करते, क्योंकि लेखक के ही शब्दों में सारे पात्र समाज के पात्र ही हैं—मैं तो उनके और पाठकों के बीच एक जरिया मात्र हूँ।'

चारों ओर पुराने सामाजिक बन्धन ढीले होते जा रहे हैं और गम्भीरता-पूर्वक उनकी पर्वाह भी कौन करता है? पर खैर जैसा भी हृदयहीन और बर्बर यह समाज है, उसकी मौजूदा व्यवस्था को मिटाना कहानीकार, व्यक्ति के लिये हितकर नहीं समझता। वह उसकी रक्षा ही चाहता है।

इसका कारण है। वह यह कि मौजूदा समाज को धूल में मिलाने के बाद जो एक नया समाज कायम करना होगा, उसकी रूप-रेखा लेखक को साफ़ नहीं मालूम। समाजवाद की तरफ लेखक का कुछ झुकाव हो सकता है लेकिन अपनी किसी स्पष्ट, प्रबल प्रेरणा से नहीं। इसलिये 'यथार्थवादी रोमांस' और 'सफ़र' की कहानियों में अगर हम आनेवाली दुनिया का नक्शा नहीं देख

* कहानियों का नया संग्रह।

सकते, तो कुछ ताज्जुब नहीं। पर यह एक कमी है, और इसको पूरा करने की तरफ़ पहाड़ी का शायद फ़िलहाल झुकाव भी नहीं है।

हमारे मौजूदा समाज और तहज़ीब की जड़ इन कहानियों ने कहाँ तक पकड़ी हैं, यह थोड़े में कहा नहीं जा सकता : फिर भी इस तहज़ीब और समाज का एक रुख कहानीकार ने सच्चाई के साथ पेश किया है। यह वही रुख है जिसमें जवानी की मजबूरियाँ समाज में प्रकट होकर जीवन-भर का लाछन बन जाती हैं, और इन मजबूरियों का सिलसिला पहाड़ी ने भावुकता में डूबकर नहीं पकड़ा है, बल्कि अपनी व्यावहारिक बुद्धि से ही उसने उन मजबूरियों को और उनके साथ लगे मनोभावों को, आँका है।

अक्सर कहानियाँ, यात्रा या परदेश की छोटी-छोटी घटनाओं और इनकी याद को लेकर लिखी गयी हैं : आखिरी टेक इन कहानियों में होती है मनुष्य की मजबूरी— उसकी लाचारी हालत, जिसको मानकर ही आप जीवन को समझ सकते हैं। असफलता और निराशा में सुलग-सुलगकर व्यक्ति मिट जाय, क्षार हो जाय...वह उसकी कहानी होगी।—लेकिन अपने समाज से उसका सम्बन्ध फिर भी रहता रहेगा। और यही सम्बन्ध आधार-तत्त्व होगा उस कहानी का।

इन कहानियों का उद्देश्य ?

यही कि हमारे शहरों के बहते-बहते जीवन की ऐसी चलती तस्वीरें आँखों के आगे आती जायँ, कि अंत में हम कह उठें—'अरे, यह क्या हो गया ? आखिर कुछ भी हाथ नहीं आना था, क्या ? सिवाय एक पछतावे के—सो भी व्यर्थ ?'

कहानी का यह अन्त ही उसे एक चीज़ बना देता है, हालाँकि कभी कभी ऐसा भी लगता है कि यह अन्त कहानी को 'कहानी' बनाने के लिये ही हुआ है।

पहाड़ी का टेकनीक यह है कि—

कहीं से भी कोई सीन शुरू हो जाता है—एकाएक ; जो पाठक को अपनी ओर खींच लेता है। उसी में से फिर मनोविश्लेषण का एक सिलसिला बँधता है, जिसमें कुछ युवक-युवतियों के खुले मुँदे मानसिक और शारीरिक चित्र बनते और मिटते जाते हैं—यानी, कुछ पुरानी यादों का एक धुआँधार किस्सा,

जिसकी कड़ियाँ जोड़ने के लिये रोज़मर्रा की छोटी-मोटी बातें भी बीच-बीच में चलती रहती हैं। हीरो (या हीरोइन, जो भी हुआ) एक ही स्थान पर बैठा रहता है और, बिना हमारे साफ साफ़ जाने कि कैसे, कहानी आगे बढती जाती है, पात्र के मनोभावों में घिरकर जब कभी पाठक को उलझन-सी पैदा होने लगती है, तभी कोई-न-कोई छोटी-मोटी घटना ऐसी उपस्थित हो जाती है कि वह ऊब मिट जाती है, और कहानी फिर दिलचस्प हो उठती है।

फिर कथानक। एक अप्रत्याशित विस्फोट में उन सब घटनाओं और भावनाओं का खात्मा हो जाता है। जैसे एक दीपक के चारों ओर पतिंगों की भीड़ अपनी लीला दिखाती रही हो और अचानक दापक बुझा दिया जाय। या जैसे कोई बिजली के कई तारों को अन्त में एक करके फिर उन्हें 'फ्यूज़' कर दे।

इन बातों से भाषा की एक खास शैली पैदा होती है; छोटे-छोटे वाक्य-विन्यास, जिनमें क्रियाओं को छोड़ने का आग्रह होता है। हलके, आम, सीधे सादे शब्द प्रयोग किये जाते हैं। सकेत-भरे शब्द और कोमल सकेतों का एक मिला हुआ प्रवाह चलता है। विशेषण बहुत कम आते हैं, मगर जहाँ कहीं आते हैं कविता की सी व्यजना लिये हुए। यह शैली लेखक का अपना मुहाविरा लिये हुए है। जैनेन्द्र और उनसे काफी कम अज्ञेय का शैलियों में भी उनके अपने ही मुहाविरे आते हैं, जिनके लिये प्रेमचन्द में या प्रचलित लिखित उर्दू में सनद ढूँढ़ना व्यर्थ होगा। इसे हम शायद 'हिन्दी की आज़ादी' कह सकते हैं। हिन्दी भाषा का अपना मुक्त विकास। सौंदर्य की सृष्टि इन शैलियों में हुई है, निस्सदेह। पर एकाध ऐसी वाक्य रचना तो खटक ही जाता है—

'जो समझे वही, मुझ तक पहुँचाने का पूरा अधिकार पा, अपने को भूल जाता है न !'

पहाड़ी की भाषा में कई आकर्षक विशेषताएँ हैं। ऐसे वाक्य-विन्यास, जिनमें एक हलके व्यग का पुट मिला रहता है, दुनियादारी मे सुलझी हुई बुद्धि का पता देते हैं। कभी-कभी भाषा में एक अजाब निस्पृहता-सी होती है, और कभी-कभी भाषा के प्रवाह में एक बड़ा मोहक अल्हड़पन मिलता है। कहीं-कहीं तो भाषा अपनी सरसता में बहुत ऊपर उठ जाती है। मनोभावों

में घटनाओं का एक सजीव गति चित्र खुलता जाता है। उसके अजान सरल मोहकता में डूबकर मन अपने उन गूढ भावों को पहचानने लगता है जो छंद और अलंकार के भार से मुक्त कविता का अछूता रूप ले लेते हैं। ऐसे स्थल बहुत बार नहीं आ सकते। फिर भी इसके कई उदाहरण 'एक अध्याय' में हैं:—

'गाड़ी ने सीटी दी चली, हलका धक्का लगा, वह एक ओर झुकी। फिर अपने को पकड़ लिया। गाड़ी से बाहर चौड़ी लाइनों के जाल के अलावा और कुछ नहीं दीखता, खटर-खटर रेल की आवाज़ होती। इधर उधर दूर सब वस्तुएँ पीछे छूटती जातीं। कोई अन्त न मिलता, आँखें मूँदे दिल के सुनसान में कोई तत्व दुबका मिलता उसकी सुलझन फ़िक्र के परे था . ...'

'बच्चे को गोदी मे लिया, उसकी आँखों का भोलापन एक अज्ञानता। कहने का ढंग, बच्चा पास लगा। उसे नज़दीक पाया। अपने से चिपटता वह जान पड़ा। वह देख-देख मुस्कराती थी। बच्चा खड़ा बाहर देख रहा था। दूर-दूर गड़रिए अपने ढोरों को चरा रहे थे। कहीं कहीं झाड़ियाँ ढाक का जंगल। आगे पेड़ों की कतार, खेतों में गेहूँ की फ़सल खड़ी तैयार। गाँव की रमणियाँ सिर पर गट्ठे ले जाती। जीवन का चलचित्र। सारी विभिन्नता बिखरी-बिखरी, फैली-फैली...। इधर हम - मैं चुप, बच्चा कुतूहल में डूबा, वह जड़वत् अपने में ही। बाहर एक भारी हल्ला। और हल्ले के बीच एक धीमी आहट। नारी का आँचल उस पीड़ा को सहलाता। वह बढ़ती फैलती।... ..'

यह गुण केवल वाक्य विन्यास या काव्यमय चयन से नहीं पैदा होता। बल्कि मनोभाव ही कल्पना-जगत में उठकर भाषा के प्रवाह को अपनी विशेष गति प्रदान कर देते हैं।

लेकिन बराबर यही रंग अगर रहे तो मज़ा नहीं दे सकता क्योंकि मामूली स्मृति-मूलक कथानक में तो इसके कारण एकरसता भी पैदा हो जाती है।

'सफ़र' की सर्वश्रेष्ठ कहानी मेरे नज़दीक 'एक अध्याय' है। इसके बाद 'निरुपमा' और 'वह मिस शिवकुँअर ही थीं' आती हैं। दूसरी सफल कहानियों में ख़ासकर 'वह किसकी तस्वीर थी,' 'रामू और भाभी' 'एक रेकार्ड' और 'वह अँगूठा' का ज़िक्र हम कर सकते हैं।

'एक अध्याय' में पहाड़ी का चरित्र-विश्लेषण, गतिमय वातावरण के साथ

अत्यन्त स्वाभाविक प्लाट, एक मीठी गुदगुदी-सी लिए भावों की आपस में हल्की-हल्की चोटें, विशेषताएँ हैं। साथ ही छोटी-छोटी घटनाओं का मिला हुआ सजीव तार भी है जो एक सुगंधित सपने की तरह जान पड़ता है मानो अब टूटा, अब टूटा!

['भारत,' १६ जनवरी, १९४०]

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' : कहानीकार

उपेन्द्रनाथ 'अश्क' पर मै एक अर्से से लिखना चाहता रहा हूँ। क्यों ?

मैंने उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को देखा नहीं। उनकी कहानियों और कतिपय पत्रों के बाहर नहीं। उनकी बहुमुखी साहित्यिक प्रवृत्तियो का मैंने सम्यक अध्ययन भी किसी थीसिस के लिये नहीं किया है। फिर क्यो यह इच्छा मेरे मन में रही है कि मैं 'अश्क' पर कभी कुछ लिखूँ ?

'अश्क' उन तीन-चार हिन्दी साहित्यिकों में से हैं जिन पर मैं लिखना चाहता रहूँगा सदैव , कुछ उनकी नौजवान प्रवृत्तियों के कारण, कुछ उनकी साहित्यिक ईमानदारी को मूल्यवान समझकर उसकी चर्चा करने के शौक से, और कुछ इस कारण कि—वे ससार के महानतम कलाकार नहीं हैं ; कि—उनकी खरी इनसानियत का पहलू मेरी भावनाओ को कुछ अजीब तरह से छू गया है। उनका विकास मुझे अपने ही स्वप्न का एक हिस्सा लगता है, जिससे मुझे दिलचस्पी है।

उपेन्द्रनाथ को मैं अभी बहुत बड़ा कलाकार नहीं मानता। एक बहुत होशियार कलाकार मानता हूँ, जो शायद साहित्य में अपने रास्ते को बहुत समझ बूझकर तय कर रहे हैं।

और उनमें एक स्वस्थ विकास मैं पाता हूँ। कला-कृति के बिखरे हुए तत्वों को अब वे अधिक सामञ्जस्य देने लगे हैं।

सिर्फ कहानियों से यहाँ बहस है, मेरे सामने उनका पहला सग्रह 'डाची' और दूसरा 'कोंपल' और कुछ अन्य कहानियाँ हैं। 'डाची' में 'डाची' ही एक पूर्ण कला-कृति है जो हृदय पर अमिट प्रभाव छोड़ जाती है ; यों और भी सफल कहानियाँ इस सग्रह में हैं—जैसे '३२४', 'लीडर', 'रिफ़ाकत'।

किन्तु आज जो बातें हम कहानी में चाहते हैं—वे उसमें मौजूद हैं ? यानी, ज़मीन पर रहनेवालों की बू हमको कहानी के शब्दों में आये, और फ़िर ज़मीन पर रहनेवालों की किस्मत उन्हें कहाँ ले जाती है—कौन-कौन ताकते हैं, उनके

जीवन को सुख-दुख, उसकी भावनाएँ, मुख्य स्थान रखती हैं—कहानी उन्हीं को लेकर कहानी रहती है—लेकिन कहानी का असर उस सुख-दुःख के मूल्यांकन में है, और जितनी ही नज़दीकी और गहराई, और साथ ही व्यापक किन्तु पुष्ट दृष्टिकोण से उसका अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है, उतना ही महत्वपूर्ण हमारे लिये कहानी के पात्र का सुख-दुःख हो जाता है।

मगर 'डाची' के संग्रह के बाद उपेन्द्रनाथ ने एक व्यापक दृष्टिकोण से एक विशेष समस्या को सुलझाने की दिलचस्पी के अलावा उस समस्या को उसकी वास्तविक पृष्ठभूमि में रखने का प्रयत्न भी किया है, यानी हम कहानी-पात्रों को समझने के बाद उस संसार को भी कुछ अधिक सार्थक रूप से समझने लगते हैं जिसमें वे पात्र साँस लेते हैं।

और यह खूबी उपेन्द्रनाथ की कहानियों की खास खूबी हो उठती है 'कोंपल' संग्रह की अधिकांश तथा इधर की कहानियों में। जिस वातावरण का चित्रण लेखक प्रस्तुत करता है, उसकी छोटी-छोटी चीज़ों का ज़िक्र करके उसमें जान डाल देता है। और इन चीज़ों को वर्णन के लिए जो भाषा प्रयुक्त की गयी है, वह न साहित्य का तकल्लुफ लिये हुए है, और न लेखक की किसी अपनी शैली की एकरसता।

उपेन्द्रनाथ उन कलाकारों में हैं जो धीरे-धीरे अपना व्यक्तित्व विकसित करते हुए अन्त में एक व्यापक भूमि पर छा जाते हैं। उनके सम्पूर्ण विकास को समय की अपेक्षा होती है और अनुभव और अनुभूति के नाना भूमि तलों की। उनकी कला की प्रौढता आयु के साथ अपना असर लाती है। और वह असर गम्भीर होता है और गहन। विलक्षणता उसमें नहीं होती। क्योंकि अपरिचित सा उसमें कुछ नहीं लगता—विकास के अतिरिक्त। और क्योंकि उस विकास की जड़ें भी हमें परिचित परम्परा में साफ़ दिखायी देती हैं। उपेन्द्रनाथ हमें अक्सर प्रेमचन्द की याद दिला रहे हैं। हाँ, 'डीटेल्स' (यानी तफ़सील) पर वह अभी शायद उचित से कुछ अधिक ध्यान दे जाते हैं—और उनके वातावरण और परिस्थितियों के वर्णन-चित्र स्वयं एक कहानी तत्व अपने अन्दर जगा लेते हैं। जो कहानी के अन्दर छिपी एक कहानी का-सा मज़ा ज़रूर देता है, पर जो कहानी की सम्पूर्ण रस की एकता को भिन्नभिन्न कर देता

है। यह कहानीकार की कला की खूबी है कि यह रंगीनी पूरी तस्वीर को बेरंग नहीं होने देती। वहीं कहानी का कोर होता है। 'मसलन् कौंकडा का तेली' में धूल-भरे रास्ते का सफ़र ही कहानी का कुल आधार है—जिसके बिना उसका अन्त (यानी हारे-माँदे बच्चों को, बुखार आ जाने की वजह से, पूरा रास्ता तय कर लेने के बाद फिर वापिस भेजने की मजबूरी) प्रभावकारी न हो पाता। 'चेतन की माँ' में भी जो दरअसल एक उपन्यास का अंश है, टूटे-फूटे घर का सजीव चित्रण लगता है, मानो कुल कहानी की आत्मा-सी अपने अन्दर छिपाये बैठा है। 'चेतन की माँ' से कम सजीव वह खँडहर नहीं। वे दोनों एक ही चीज़ हैं। एक ही झाँकी के दो किवाड़ हैं।

एक और खास बात जो मैं अक्सर महसूस करता हूँ—उपेन्द्रनाथ की कहानियों के बारे में, और वास्तव में 'अश्क' के पूरे कलात्मक दृष्टिकोण के बारे में—वह यह है कि इस शख्स की आँखें यथार्थ की दुनिया पर पूरी तरह खुली हुई हैं; 'खास बात' मैं इसे इसलिये कहता हूँ कि यह कहानीकार कवि की भावुकता भी अपने अन्दर काफी रखता है, मगर वह गुण कहानीकार को वास्तविक परिस्थितियों को सहानुभूतिपूर्वक समझने में सहायक होता है; वह गुण कहानी-जगत की वास्तविकता को अक्षुण्ण रखते हुए उस वास्तविकता में छिपी मानव-हृदय की मसोस को प्रकट करता है। लगभग सभी कहानियों में देखिये, परिस्थितियों का हीरो अथवा हीरोइन—बहुधा हीरोइन—के चारों ओर के वातावरण का मूर्त अमूक चित्रण और व्यक्ति की मानसिक कथा कहने के उपरान्त जब सहसा कहानी-सूत्र अन्त में काट दिया जाता है, तो हमारी भावनाएँ तड़पकर दर्द की एक करवट ले उठती हैं। 'कोपल' में देखिये—गहनों की एक नव विवाहिता की दुनिया है, जिसमें उसका यौवन प्यासा घुल रहा है: बूढा पति जब उसे विधवा बना जाता है, तो माँ उसके गहने लेने आयी है—गहने जिनकी शोभा उसके अंग पर परमेश्वरी ब्राह्मणी का लड़का निरख गया है, सराह गया है। और उन्हें अब वह अपने शरीर पर नहीं सजा सकती, आह! और चुपचाप एक ट्रैजिक हीरोइन की तरह उन्हें वह पहनकर एक बार आइने में देखती है, अपना रूप, वह जवान विधवा। 'एक लम्बी साँस भरकर वह वहीं ट्रंक पर बैठ गयी, और उसकी आँखों के सामने चार

वर्ष पहले की एक घटना याद आ गयी, जब परमेश्वरी ब्राह्मणी के हँसमुख लड़के ने उसकी कण्ठी का हुक बाँध दिया था। उसी दिन की तरह एक अजान-से सुख की झुरझुरी उसके तमाम शरीर में दौड़ गयी।

'दूर कहीं मुसलमानों के मोहल्ले में मुर्ग़ ने अज़ान दी। सींकरी चौंककर उठी। सब गहने उतारकर उसने ट्रंक में बन्द किये। कपड़े तह लगाकर रखे और दबे पाँव ऊपर पहुँची। चाँद इस वक्त दाईं तरफ के ऊँचे मकान की ओट में चला गया था। सींकरी चुपचाप चारपाई पर जा लेटी।'

'दूसरे दिन जब माँ वापिस जाने लगी और अन्दर ले जाकर उसने सींकरी से गहने माँगे तो उसने टाल दिया।'

दिल की यह मसोस लगभग सभी कहानियों में हमें मिलती है। किसी भी कहानी को आप ले लीजिए—लगभग सभी कहानियाँ। और इससे एक बात का पता चलता है कि उपेन्द्रनाथ 'अश्क' अपूर्ण आकाक्षाओं के जीवन की दबी हुई हाय की कहानी के कलाकार हैं। हास्य उनमें नहीं है। और यह उनकी एक बड़ी कमी है। जहाँ हास्य के उपयुक्त ज़मीन तैयार भी मिलती है, वहाँ पर व्यंग—कटु व्यंग का समावेश हो जाता है, हास्य का नहीं। Irony—जो नाटक के प्रधान गुणों में से एक है—को वह पैदा करते हैं। 'डाची' संग्रह की अधिकांश कहानियों के किंचित परिहासोन्मुख प्लॉट वास्तव में इसी Irony पर अवलंबित हैं—जैसे 'लीडर' और 'माया' में। हास्यरस एक कठिन रस है, और यह बहुत सी पीड़ाओं का उत्पादक है, और शायद यह करुण से भी परे के लोक की विभूति है—पर जिसको यह संसार (अथवा 'ईश्वर') दे। मैंने पहले कहा कि उपेन्द्रनाथ की प्रतिभा धीरे धीरे एक विशाल वृक्ष की तरह बढनेवाली प्रतिभा है। जीवन के बहुत से गम्भीर रस (जिनमें—चाहे मानिये चाहे न मानिये—हास्य रस भी है) आगे-आगे आयेंगे; यद्यपि अब तक जीवन में क्या-कुछ न आ चुका होगा।

और एक ज़रूरी पहलू जो हमें ध्यान में रख लेना है, वह इस कहानीकार के कथा-जगत की विषमता का है। यानी, यह कि यह विषमता व्यक्ति की भावनाओं की, उसके चरित्र की है, जिन्हें घटनाओं ने पैदा किया है,—यह संघर्ष बहुधा एक ही वर्ग में उत्पन्न विषम भावनाओं का संघर्ष है। इसमें

विभिन्न वर्गों का संघर्ष अब अगर आने लगा है—तो वह काफी बचाव रखते हुए।

यह बहस हमें प्रगतिशील साहित्य की व्याख्या करने को आमन्त्रित करती है। उपेन्द्रनाथ 'कोंपल'-संग्रह की भूमिका में सही कहते हैं कि किसी कहानी का प्रगतिशील या प्रतिक्रियाशील होना लेखक के अपने दृष्टिकोण पर निर्भर करता है, जिसे सामने रखकर वह कहानी लिखता है, जो उसकी कहानी से निकाला जा सकता है। यहाँ इतना और कह देना ज़रूरी है कि यह दृष्टिकोण लेखक का अपना होते हुए भी अगर वर्गसंघर्ष-जनित उस सामाजिक गतिविधि का आधार लिये हुए है जिसमें हम आनेवाली वास्तविकता का (जो मौजूदा संघर्ष का नतीजा होगी) पात्रों तथा घटनाओं के चित्रण के अन्दर झलका सकते हैं—तभी वह दृष्टिकोण यथार्थ में प्रगतिशील दृष्टिकोण होगा। इस दृष्टिकोण में जो ऐतिहासिकता है वह वर्तमान की गति को पकड़कर भविष्य की रूपरेखा को कहानी के प्लाट में, अप्रत्यक्ष रूप से बाँधती है, और भविष्य का यह संकेत, जिस ऐतिहासिक द्वंद्व के तर्क को लेकर कथा का अन्त प्रस्तुत करता है, मनुष्य के निरन्तर संघर्ष के सम्बल से अनुप्राणित और उसकी विजय के विश्वास में सुदृढ होता है।

घटनाओं के अन्त में हमारा जी अगर मसोस कर रह जाता है, और हमें कोई भी राह मुक्ति की, किसी ओर एक हलके किरण संकेत के रूप में भी, दिखायी नहीं देती—यानी पाठक को—, तो वह कथानक कितना ही प्रभावकारी क्यों न हो, प्रगतिशील यथार्थ रूप में नहीं। घटनाओं का चित्रण वर्ग-संघर्ष को लेकर करने पर भी उसका अन्त अगर पाठक को एक नव चेतना, एक नयी अन्तर्दृष्टि, अपने भविष्य के लिये नहीं देता, तब वह कुल चित्रण नाटकीय महत्त्व ही रखता है— प्रगतिशील दृष्टिकोण से। और मैं समझता हूँ कि आधुनिक कहानी का असली इम्तहान इसी में है। उपेन्द्रनाथ अपने कथानकों में एक व्यापक दृष्टिकोण जिस प्रकार ला रहे हैं वह महत्त्व की चीज़ है, केवल उसमें वह भविष्य की reading वह पुराने आदर्शवादी स्वप्न से भिन्न चीज़ है—अभी सजीव रूप से कम कर रहे हैं। लेकिन उनकी प्रतिभा धीरे-धीरे अपनी शक्तियों को विधिवत् सम्यक् उपयोग करती हुई कुछ उसी दिशा की ओर बढ रही है, यह उनकी

कहानियों से झलकने लगा है। पर निश्चित रूप से अभी कहा नहीं जा सकता है कि वे युग-चेतनाओं के वाहक होना, एक व्यापक क्षेत्र पर, अपने लिये अभी समयोपयुक्त या समीचीन समझेंगे या कि जीवन की ट्रैजेडी और मानव-सम्बंधों के 'शाश्वत' सम्बन्धों में छिपी विषमता की ही झाँकियों को आत्मिक तीखापन प्रदान करते चलेंगे।

['हंस'...'५१]

'तिलिस्म-ए-खयाल' में हमारे रोगी समाज की झाँकियाँ

(१)

आज के आर्ट में जो भी चीज़ पेश की जाती है, उसमें खालिस कोई एक चीज़ पेश की जाती हो—या करना मुमकिन भी हो—यह नहीं है। आज के दिन चारों तरफ के सघर्षमय जीवन ने हर प्रकार से हमें इस तरह ढक लिया है—हमारा सबका जीवन आज इस तरह चल रहा है—कि सिर्फ एक किसी चीज़ को लेकर हम कुछ समझ ही नहीं सकते, उस चीज़ के बारे में, या किसी भी चीज़ के बारे में। क्योंकि उस चीज़ पर जो रग पड़ रहा है वातावरण का, आस पास की घटनाओं का, स्वयं हमारे और हमारे साथियों के विचारों का, उस सबको हम उस चीज़ का एक अग समझने के आदी हो चले हैं।

कला के कहानी-जैसे सक्षिप्त रूप में भी वह सादगी, वह एकदम स्पष्ट आउटलाइन केवल पात्रों की और घटनाओं की, हम नहीं पायेंगे : यानी, नयी कहानियों में, रेखा-चित्रों पात्रों और घटनाओं के अलावा, समाज की वस्तुस्थिति का भी बनना लाज़मी-सा हो गया है।

यही नहीं, रस—यानी वह गम्भीर, व्यगात्मक करुण या हास्यपूर्ण दृष्टिकोण जिसमें कलाकार अपने कथानक को रँगता है—भी वास्तविक जीवन की तरह, बहुत ही मिश्रित रूप में अपना प्रभाव कहानी में पूरा करता है। मगर सजावट के लिये कभी नहीं, और न कलाकार की विक्षिप्त (चाहे कितनी ही मौलिक) कल्पना के सुख के लिये। बरबस, कला आज ध्येयपूर्ण हो गयी है। यहाँ तक कि, आज वस्तुस्थिति यह है कि जो कलाकार विगत सीमित स्पष्ट कलाध्येयों के लिये—सत्य शिव और सुन्दर के अमूर्तलोक में अपने को और पाठकों को अचेत विमोहित करने के लिये ही—लिखते थे, वे भी आज सामाजिक लक्ष्यों से परिपूर्ण साहित्यिक प्रगति से मानो होड लेने के लिये अपने व्यक्तिवादी लक्ष्यों को स्पष्ट करके लिखने लगे हैं। अतः नयी धारा का रुख और उसका ज़ोर स्पष्ट है।

उपर्युक्त पैरों (paras) को ध्यान में रखकर अब आप पजाब के एक नये प्रतिभाशाली कहानी-कलाकार का परिचय लीजिये।

हम यहाँ विशेष रूप से उसके सग्रह 'तिलिस्म ए-खयाल' की एक झाँकी लेना—उसको समझना चाहेंगे। कृशनचदर की इसमें छोटी बड़ी तेरह कहानियाँ हैं। कृशनचदर उर्दू में लिखते हैं। हिन्दी में उनकी लोकप्रियता अभी नयी है। विशेषतया उनकी कहानियों को पजाब और काश्मीर से ताल्लुक है—मगर उसमें छुपा हुआ दिल एक नये, नौजवान भारतीय का है। लहजा उर्दू है—खालिस उर्दू, जिसमें कहीं-कहीं रस पजाब की लय और तानों का है। पश्चिम के कलाकारों का असर लेखक की विचार-शक्ति पर ही अधिक है, निर्मायक और सयोजक शक्ति पर अधिक नहीं।

उर्दू की दास्तानगोई—लतीफ़ागोई—जिसमें बात का मज़ा, और कहने का लुत्फ़, और किस्से का एक तरह से गोया खत्म ही न होना : जिसमें यह सब था—अब भी उर्दू कहानीकारों की कला की एक धुँधली पूर्व सीमा सी बनी रहती है। प्रेमचन्द—और उनके अन्दाज़ पर सुदर्शन ने ही लतीफे को 'कहानी'—शॉर्ट स्टोरी—पहले-पहल बनाया, फिर भी, इस देश की मौखिक कहानियों में जो कौतुक का एक विशेष भाव, उसकी एक भारी मात्रा, रहती थी,—वह उर्दू की आधुनिक कहानियो मे भी अपना 'रस' सुरक्षित सा किये हुए है।। हमें वास्तव में यह भूलना नहीं चाहिये कि हमारी गाँव और शहर की मिली हुई सस्कृति में सामती विशेषताएँ अब भी बहुत निर्बल नहीं हो सकी हैं : इसीलिये एक रोमानी 'कौतुक' उर्दू की कहानियों में विशेष रूप से आ ही जाता है। कहानियों के साधारण पाठक इसको छोड़ नहीं सके हैं। कौतुक और रोमास यों, जीवन में ही है। पर एक कौतुक और रोमास हमारी अपूर्ण इच्छाओं-वासनाओं की विह्वल दुनिया में होता है, और एक कौतुक और रोमास होता है—स्वस्थ चेतनाओं के सफल-असफल सघर्षों में। एक दुनिया में रिफ्यूजी बसते हैं 'जो क्या कुछ थे, जो क्या कुछ हो सकते!' और एक दुनिया उनकी है जो अपने यातनापूर्ण देश से भाग नहीं गये हैं, बल्कि वहीं प्राण पण जूझ रहे हैं : मुसीबत का सामना कर रहे हैं, ग़रीबी और असहाय्य—नाउम्मीदी और आतक और वर्ग-जनित क्लेश के शिकार होने से बचने की राह ढूँढ रहे

हैं। इस दशा में उनकी भावनाएँ और विचार जो रूप लेते हैं, वह कवि के कल्पना-लोक से बाहर, दूर की चीज़ है। उसका स्वप्न अद्‌भुत है। उसकी वास्तविकता अत्यधिक मार्मिक और मनुष्य-जीवन के समस्त रहस्य-सकेतों से पूर्ण है। एक साथ, एक ही हवा में साँस लेते हुए जब हम ऐसे विभिन्न रूप, प्रकृति, अवस्था और पद के मनुष्यो को देखते हैं, जो अपने आचरण से एक-से एक ही जाति के जीव नहीं लगते, तो अन्यान्य समस्याएँ दर्शन और धर्म, नीति और राजशासन की हमारे सम्मुख अपने उत्तर और समाधान के लिये चिल्लाने लगती हैं। हास्य और रुदन तब दो चीज़ें नहीं रह जातीं। धन और निरस्त्र नग्न निर्धनता तब आपस में कोई भेद नहीं प्रकट करते। मनुष्य की उँगलियों में तब भेड़िये के नाखून और उसकी आँखों में शेर और चीते की बर्बरता दिखायी देती है। और इस खून सुखानेवाले भीषण जजाल के बीच बहती-सी एक स्निग्ध धारा, क्षीण आकाशगगा सी, किसी चीज़ की, किसी चीज़ की—'प्रेम' की ? 'ममता' की ? 'नीरव शान्ति' की ? 'विस्मृति' की ? 'वैराग' की ?...या 'मात्र अज्ञान' की, अबोध मन की सी ?—एक अस्पृष्ट किन्तु निश्चित, शून्य-रेखा चमकती-सी रहती है : एक कोई आधार, जन का, जन-जीवन का,—वह क्या है ? यह प्रश्न कि वह क्या है ? मन में घूमने लगता है : मन को मथने लगता है। और वहीं (जहाँ तक कहानीकार का सम्बन्ध है) 'कहानी' अपना अन्त मानो पा लेती है।

कृशनचन्दर की कहानियाँ पढ़ने पर कुछ ऐसा ही भाव-जगत मन में फैलने लगता है।

(२)

[अ]

एक कहानी है, 'मुझे कुत्ते ने काटा'। इसके कुछ चित्रपट सिलसिलेवार देखिये—

इतने में एक दरवाज़ा खुला, और बड़े डाक्टर साहब दाखिल हुए। उनकी मुस्कराहट ही से प्रकट होता था कि यही बड़े डाक्टर हैं। उनके

पीछे-पीछे एक नर्स दाखिल हुई। मैंने टोपी उठाकर इस तरह सलाम किया कि दोनों खुश हो जायँ। दोनों खुश हो गये।

डाक्टर साहब ने मुस्कराकर कहा—'यह पर्ची है, मगर आप कल नहीं आए?'

नर्स ने कहा—'मगर ज़ख्म थोड़ा सा है। यह तो जल्द ठीक हो जायगा।'

'हाँ', डाक्टर साहब ने कहा—'ज़ख्म गो इतना गहरा नहीं, फिर टीके तो आपको चौदह रोज़ लगवाने पड़ेंगे।'

'सिर्फ चौदह रोज़!' मैंने नर्स के सुर्ख और चमकीले होठों को देखकर कहा।

नर्स मुस्करा दी, बड़े डाक्टर हँसकर छोटे डाक्टर से बातें करने में मशगूल हो गये।

× × ×

.. दरवाज़ा फिर खुला और नीली वर्दी पहने हुए एक चपरासी अन्दर दाखिल हुआ, और बड़े डाक्टर साहब से मुखातिब होकर कहने लगा, 'हुज़ूर को बड़े डाक्टर साहब याद करते हैं।' जब बड़े डाक्टर चले गये, तो मैं सोचने लगा, 'कितनी अजीब बात है, इस दौरे-महाजनी में हर कोई दूसरे से बड़ा है। छोटा डाक्टर, बड़ा डाक्टर, और फिर उससे भी बड़ा डाक्टर। क्या इन्सानों की गुलामी किसी दरजे पर पहुँच कर भी खत्म नहीं होती। कितनी अजीब बात है, ज़िन्दगी के हर विभाग में...। नर्स बोली (अँग्रेज़ी में), 'तुम बड़े शरीर हो!'

मैंने कहा—(अँग्रेज़ी में), 'मैं बिलकुल मासूम हूँ। मुझे बावले कुत्ते ने काट खाया है। मैं दुख का मारा हूँ।'

नर्स ने मटककर कहा,—'मैं इन मासूम शरारतों को खूब समझती हूँ, अच्छी तरह से।'

× × ×

कमरे से निकलकर मैं बड़े बड़े बरामदों में से गुज़रता हुआ अस्पताल के उस आलीशान हाल में पहुँचा जिसके ऊपर नीले कलसोंवाले गुम्बद

खड़े हैं, और चारों दरवाज़ों पर नीली वर्दियों वाले ख़िदमतगार जमे हुए हैं। इसी हाल की ख़ूबसूरत नक्काशीदार छत के नीचे एक बूढ़ा किसान और उसकी बीवी छोटे डाक्टर के आगे हाथ जोड़े हुए वापिस जाने का किराया माँग रहे थे।

छोटे डाक्टर ने बहुत कड़ुवाई से कहा, 'मगर एक दफ़ा जो कह दिया कि तुम्हारे कागज़ात कलक्टर साहब को भेज दिये हैं, तुम्हें वापिस जाने का किराया मिल जायगा।'

बूढ़े किसान ने आँखों में आँसू लाकर कहा—'साहब हम यहाँ बिलकुल नावाकिफ़ हैं। हम हरगोई से आए हैं। यहाँ हमारा कौन वाक़िफ़ है? हरगोई में साहब ने कहा था कि हमें वापिस जाने का किराया यहाँ से मिल जायग। चौदह दिन हम मियाँ-बीवी, सरकार, आपके सहारे ही यहाँ पड़े, टीके लगवाते रहे हैं। अब वापिस जाने का किराया भी आप ही से मिल जाय, तो हुज़ूर को दुआएँ देंगे।'

डाक्टर ने जवाब दिया, 'मगर भाई, किराया इतनी जल्दी तुम्हें कहाँ से दे दें?'

'सरकार!' किसान ने कहा, 'हम आज रात को कहाँ रहेंगे? रोटी कहाँ से खाएँगे? हरगोई के साहब ने कहा था कि यहाँ से वापिस जाने का किराया मिल जायगा और—'

डाक्टर जल्दी से बोला, 'फिर वही किराया, किराया, किराया! एक दफा जो कह दिया!' इतना कहकर वह चलने लगा। मुझे देखकर उसकी प्रसन्नता प्रकट हो आयी। हँसकर कहने लगा, 'आपने टीका लगवा लिया, बहुत अच्छा किया! आप कल तशरीफ़ लायेंगे ना? अच्छा, अच्छा, गुडमार्निंग।'

'गुडमार्निङ्ग'

× × ×

मैं अपनी धुन में मस्त चला जा रहा था कि एकाएक किसी ने सामने से दो हाथ फैला दिये।

'बाबा, पैसा, एक पैसा!'

दो झुर्रियोंदार हथेलियाँ काँप रही थीं। मैंने निगाह उठायी। यह

वही बूढ़ा किसान था, जो लाठी टेकता हुआ, अपनी बीवी को सहारा देता हुआ, आहिस्ता-आहिस्ता चल रहा था। आह, ये दो ग़रीब मासूम-सी आत्माएँ क्यों इस धोखे और चालाकी की दुनिया में घूम रही थीं। दीन निराशा के दो मिटते हुए चित्र थे। उनके होंठ भीख माँगते माँगते सूख गये थे, और वे अपने खेतों से दूर इस परदेस में अकेले थे। बूढ़े किसान की काँपती हुई आवाज़ में नज़र न आनेवाले आँसुओं की तरलता थी, और वह गरीब औरत किसी सदियों की मुसीबत के बोझ से झुकी जा रही थी।

मेरे दिल पर छुरियाँ-सी चल गयीं। एकाएक मेरी समझ में आ गया कि ग़रीबों को भीख माँगना इतनी आसानी से क्यों आ जाता है। मुझे ऐसा आभास हुआ कि इनकी बदनसीबी का मैं खुद ज़िम्मेदार था। शायद मेरी ही निर्धनता थी जो इस तरह दोनों हाथ फैलाये हुए मुझसे भीख माँग रही थी।

'बाबा पैसा, ख़ुदा का वास्ता! एक पैसा।'

मैं उन्हें पैसा देने का भी साहस न कर सका, और चुपचाप एक मुजरिम की तरह सर झुकाए आगे बढ़ गया।

× × ×

× × ×

[आ]

यह हमारा समाज है।

और इसी समाज के घुलते-पिसते देहातों में ऐसे भी दृश्य उपस्थित होते हैं :

'आंगी!'

'आंगी!!'

'आंगी!!!'

मुसाफ़िर आँगी पर झुक गया। उसने आँगी के सिर को अपने बाज़ुओं में ले लिया। 'क्या बात है, आँगी?'

आँगी उठ बैठी। उसने आहिस्ता से अपने आपको मुसाफ़िर के बाज़ुओं से अलैहदा कर लिया, और मक्की के दाने अलग करने लगी।

आखिर उसने घुटे हुए लहजे में कहा, 'आह मुसाफिर, मुझे यहाँ से ले चलो! यह कहकर उसने सर झुका लिया, और चुपचाप रोने लगी।

मुसाफिर खामोशी से मक्की के दाने अलग करता रहा। उसने उसे प्यार नहीं किया। एकाएक एक परिन्दा अपने सियाह पर फैलाए हुए तीर की तरह सामने से निकल गया। खलिहान के ऊपर दो-तीन सितारे चमक रहे थे, आँगी के आँसुओं की तरह, और खलिहान के दूसरी ओर औरतें नयी दुलहन की सुसराल को रवानगी का गीत गा रही थीं। मुसाफिर की निगाहें पहाड़ों से परे, सनूबरों के जंगलों को चीरकर, दूर तक फैले हुए मैदानों को ढूँढने लगी, जहाँ उसका देस था। उसकी निगाहों में रेलगाडी के पहिये घूमने लगे।

× × ×

मुसाफिर ईश्वर को धन्यवाद देता है कि वह अपनी दुनिया में वापिस आ गया, अपनी सभ्यता की दुनिया में। कभी खयाल करता है, शायद मैंने गलती की। कभी-कभी अपने दोस्तों की महफ़िल में बैठे-बैठे हँसी-मज़ाक करते हुए उसके कानों में अजीब-अजीब शब्द और वाक्य गूँजने लगते हैं...'राही, तुम कितने अजीब हो! राही!...'यहाँ तक कि उसके चेहरे से मुस्कराहट काफ़ूर हो जाती है और उसके दिल पर एक अजीब उदासी छा जाती है और वह सोचता है कि शायद किसी नीले झरने पर, रेवड़ को पानी पिलाते हुए एक ग़रीब लड़की उसका इंतज़ार कर रही है, उसके पाँव नंगे हैं, उसकी निगाहें उदास हैं। उसके बालों में सेब के फूलों का गुच्छा है। आँगी!'

× × ×

यह साहस से हीन हमारे आडम्बरपूर्ण शहरी 'सभ्यता' में बलनेवाले युवक के रोमानी दिमाग़ का चित्र है। . इसका ज़हर कहाँ तक फैला है!—किस दूर

मासूम अबोध-सी फिज़ा तक में ! इस कुल मनोदशा पर 'आँगी' एक सजीव (यद्यपि किंचित कवित्वमय) टिप्पणी है।

× × ×

× × ×

[६]

'सिर्फ एक आना' में नौकरी की तलाश कहानी बनी है—

'तुम क्या कर सकते हो ?' फोरमैन ने पूछा।

मैंने बी० ए० की डिगरी हासिल की है।' सरोश ने जल्दी से जवाब दिया।

'बेफ़ायदा। क्या तुम बोझ उठा सकते हो ? भारी बोझ ?'

'नहीं।'

'क्या तुम क्रेन पर काम कर सकते हो ?'

'नहीं तो—मगर शायद कर सकूँ। मेरा बाप एंजिनीयर था—और फिर मैं कई दिनों से भूखा हूँ !...'

फ़ोरमैन हँस पड़ा। 'तुम मुझे अच्छे आदमी मालूम होते हो। काश मैं तुम्हारी मदद कर सकता ! मगर... × × × लेकिन अगर तुम हावड़ा पुल पर जाओ, तो शायद काम बन जाय...'

सरोश हावड़ा पुल पर गया।

× × ×

'क्या तुम एक लोहे की मेख को लकड़ी के तख्ते में सीधा पार कर सकते हो ?' यूरेशियन ने पूछा। 'मैं तुमसे यह सवाल इसलिये कर रहा हूँ कि यही काम तुम्हें पुल पर करना होगा—मेखें गाड़ना, दिन-भर लकड़ी के तख्तों में मेखें गाडते चले जाना। क्या तुम इसे कर सकोगे ?'

'कर सकूँगा।' सरोश ने जवाब दिया। 'मेरा बाप एंजिनीयर—

'चच् चच् !' यूरेशियन ने बीच में टोकते हुए कहा, 'मुझे तुम्हारे खान्दान की हिस्ट्री से कोई दिलचस्पी नहीं।' यह कहकर, वह कुछेक क्षणों के लिये रुका, फिर सरोश की तरफ़ देखकर कहने लगा :—

'साठ रुपये में यह काम हो सकता है।' यह कहकर उसने फिर एक अर्थपूर्ण अन्दाज़ से सरोश की ओर देखा।

सरोश ने अपने कमजोर लहजे में जवाब दिया, 'लेकिन मेरे पास तो एक फूटी कौड़ी भी नहीं।

यूरेशियन को गुस्सा आ गया। कहने लगा,...'क्या मैं तुम्हारा चचा हूँ (मेज़ पर मुक्का मारकर) हम यहाँ सिर्फ़ यूरेशियन लोगों को काम देते हैं। समझे! अगर मैं शायद इस बात की भी परवा न करता। क्या साठ रुपये ज्यादा है? और फिर...'

× × ×

वह रात उसने सियालदह स्टेशन पर बसर की। थर्ड-क्लास वेटिंग-रूम का पुख्ता फ़र्श ..'मुझे आयन्दा यहाँ ही सोना चाहिये', उसने दिल में सोचा। 'यह जगह इस वक्त तो काफी वीरान दिखायी देती है, और फिर यहाँ कोई पुलिस का सिपाही भी नज़र नहीं आता था, और किसी भलेमानुस ने बिजली का बल्ब भी तोड़ दिया है ..' एकाएक उसका हाथ किसी नर्म और गर्म चीज़ से टकराया। यह एक हाथ था। यूँही, किंचित अनिच्छा से ही उसने उसकी उँगलियों को छुआ। फिर उसकी हथेली को। फिर कलाई। उसके बाद उसकी उँगलियाँ एक काँच की चूड़ी पर जाकर रुक गयीं। सरोश ने आँखें खोल दीं। उसके नज़दीक एक कोने में एक औरत घुटने समेटे हुए लेटी थी और वह उसका हाथ थामे हुए था। वह सो रही थी। एकाएक पलटकर वह उसके बग़ल की तरफ मुड़ गया।

'तुम कौन हो?' औरत ने एक मद्धिम उदास लहज़े में पूछा। उसने अपनी बड़ी-बड़ी सियाह आँखों से एक मर्तबा सरोश की तरफ़ देखा। और फिर उन्हें बन्द कर लिया। वह एक ग़रीब भीख माँगनेवाली औरत थी। वह ग़रीब थी, और बदसूरत और बेहद थकी हुई...उसे किसकी परवा हो सकती थी...!

× × ×

मँगतू भिखारियों का सरदार, लातें फैलाए, चटाई पर हुक्का पी रहा था।...'यह लो बेटा,' मँगतू ने कहा, 'इन कपड़ों को पहन लो, और इस

बेग को हाथ में थामे रखो . हमारे टोले में कई दसवीं पास भिखारी हैं। लेकिन तुम पहले ग्रेजुएट भिखारी हो।...अब इसी पेशे को पकड़ लो, बेटा, हमेशा के लिये, और अपनी उन तमाम चालाकियों को काम में लाओ जो तुमने विद्यार्थी-जीवन में सीखी हैं। अगर तुम होशियार रहे, तो एक दिन मेरी जगह हासिल कर लोगे ..।' मँगतू फिर कुछ क्षणों के लिये रुक गया, और इधर-उधर देखकर उसने चटाई के पास पडे हुए बूटों के एक जोडे को उठा लिया, और सरोश की तरफ हाथ बढाते हुए कहने लगा, 'और हाँ, बेटा मैं इन्हें तो बिलकुल ही भूल गया था। इन्हें भी पहन लो।'

बहुत पुराने बूट थे। सूखा हुआ चमड़ा, कीड़ों का खाया हुआ, बेरंग, भद्दा। एकाएक सरोश की निगाहें एक हरे लेबिल पर पड़ीं, जो बूट के अन्दर लगा हुआ था। सरोश को ऐसा मालूम हुआ, जैसे किसी ने उसके कलेजे में बर्छी भोंक दी हो। यह एटोनिया-मार्का बूट था। वही पुराना हरा लेबिल। इन्हीं बूटों को वह हमेशा कालेज के दिनों से जानसन एण्ड को० की दूकान से खरीदता था। एकाएक उसका गला बंद होने लगा। उसने महसूस किया कि अगर वह इस वक्त न बोल सका, तो शायद हमेशा के लिये चुप हो जायगा, मर जायगा। उसने बाहुओं से हवा में किसी को पकड़ने की कोशिश की। उसने मुँह खोलकर हवा के एक दो घूँट नीचे उतारने की कोशिश की। उसने बोलना चाहा, और फिर एकाएक उसकी आँखों में आँसू आ गए और एक ऊँची पागलों की सी चीख या हँसी उसके होठों से फूट निकली। वह जल्दी से उठ खड़ा हुआ। उसका जोड़-जोड़ हँसी से काँप रहा था।

'मत हँसो!' मँगतू ने कहा, 'काली माता के लिए,—इस तरह मत हँसो!'

सरोश चीखता गया, या शायद हँसता गया। उसकी आँखों से आँसू बहते गये। तेज़ और नमकीन आँसू, जो अँगारों की तरह गर्म थे।...एकाएक उसने चमडे के बेग को हाथ में थाम लिया, और तेज़ी से भाग गया।

× × ×

उस दिन दोपहर की चिलचिलाती हुई धूप में चित्तरंजन ऐवन्यू के पास मानसिंह टैक्सी ड्राइवर को एक पुलिस सार्जेंट ने रोक लिया। एक दुर्घटना हो गयी थी, जिसमें एक आदमी, एक तेज़ी से भागती हुई लारी से टकराकर ज़ख्मी हो गया था ! ..

(३)

बहरहाल, ये कुछ बिखरे हुए चित्र हैं हमारी आज की दुनिया के। समाज के घाव हमने यहाँ खुले हुए देखे। उनका इलाज? - नहीं, यह कृशनचन्दर अभी नहीं पेश कर रहे हैं। हमारी असहाय अवस्था, हमारी 'सभ्यता' का मिथ्यापन, वह परिस्थिति जिसमें ट्रैजिक भूलें अनिवार्य हैं, और फिर व्यक्ति के सिर उनका कुल भुगतान : यह सब उन्होंने हमको दिखा दिया है। पर इस अवस्था से नजात कैसे मिले ?—क्या इसका कुछ भी उत्तर हमें कहानियों में ही मिल जाता है ? नहीं ! यों, हम अपना निष्कर्ष निकाल लेते हैं—कि समाज में सबके अधिकार बराबर होने चाहिए। धन का समान बँटवारा भी शायद अपेक्षित है। अनमेल, आधारहीन वैवाहिक जीवन, जो अधिकांश की किस्मत में है—दर्दनाक है, पर जो कुछ है, वह है।

कृष्णचन्द्र की नज़र में घटनाएँ और पात्र बिना एक प्रकार की काव्यात्मकता के बहुधा नहीं आते। जहाँ आते हैं, वहाँ परिहास और व्यंग का रंग तेज़ हो जाता है। वर्णन में रंगीनी प्रचुर मात्रा में रहती है। उस रंगीनी में यदा कदा एक दार्शनिक के भाव भी गहरे होने लगते हैं। जीवन का वैषम्य जहाँ एक ओर उसके हृदय में क्षोभ उत्पन्न करता है, वहाँ मन में कौतुक भी कम नहीं पैदा करता। यह तमाम आधुनिक परिस्थिति जो कहानीकार की कल्पना द्वारा वास्तविकता को सजीव करती हुई काव्य के अपर लोकों में डूब डूब जाती है—लेखक, परिस्थितियों को जिस शोख नज़र से पड़तालता हुआ चलता है, वही नज़र मानो कभी-कभी अपनी शोख और चंचल दिशाओं में ही उसे भुला ले जाती है। कहानी जब शुरू होती है, तो मालूम होता है कि घटनाओं का एक सिलसिला शुरू होगा। पर थोड़ी देर बाद ही, कथानक रुक जाता है, एक भावुक चेतना का व्यापार बढ़ने लगता, और मानसिक और बहिर्जगत के दृश्यपटों का

जाल बुनने लगता है। इसमें वास्तविकता स्वयं अवास्तविक-सी लगने लगती है। लेकिन, कुछ कहानियाँ पढने पर लगता है कि शायद यह बात एक हद तक, पाठकों की माँग और पत्रकारों की रुचि का ध्यान करके शामिल की जाती है। कहानीकार, जो हो, अपने फन में पटु है, क्योंकि कथानकों की गति-विधि और उसके जोड़-तोड़ और उसके नाना प्रभाव—इन सबका समावेश बराबर अधिकार से कहानियों में हुआ है। कहानीकार जो चीज़, इन सब बाह्यावरणों के बीच में से, अधिक खुलकर देना चाहता है, वह इस संग्रह में शायद अधिक नहीं दे सका है, यानी वह चोट, व्यंग्य और सामाजिक आडम्बरों का वह उपहास—वह अभी जिस तरह करता है, उसमें कविता और स्वप्न की छायाएँ घनी हो जाती हैं। हाँ, इस प्रकार की कहानियों के प्रेमी इन्हें हृदय से लगायेंगे, मगर कलाकार का रुझान जिस ओर इशारा करता है, वह उसके आगे की ही कहानियों में हम देख सकेंगे। संग्रह का नाम 'तिलिस्म-ए-खयाल' स्वयं कहानियों का क्षेत्र और उसकी मार्मिकता की किंचित बाँध-सा देता है, यों, कितना ही संकेतपूर्ण और सार्थक वह हो।

[हस, मार्च, १९४८]

उर्दू कविता

१—हम क्यों उर्दू-काव्य-साहित्य की चर्चा कर रहे हैं?

हिन्दी-काव्य की आवश्यकताएँ

हमारा ग्रामीण भी कभी-कभी दैनिक-पत्र पढ-सुन लेता है। लेकिन हमारी कविताएँ भी उसके पढने में आती हैं या नहीं,—और उन पर उसका मत..? न हो उस गरीब में इतनी क्षमता, कोई भी मत स्थिर करने की, पर हमें नहीं भूलना है कि आज हमारे साहित्य का सवाल समस्त भारत का सवाल हो गया है। हमारे काव्य की भी सृष्टि अब बँधे हुए तग दायरों में नहीं बढ सकती। सोचो, कि हम जो हिन्दी लिखते-पढते हैं, अपनी वाणी के सम्बन्ध में हमारा क्या दृष्टिकोण है? इतना अवश्य जानते हैं कि अपने साहित्य, अपने काव्य को हम आज अपने जीवन के सघर्ष से विरक्त हुआ नहीं देख सकते। इसीलिये देखना चाहते हैं कि हमारा कवि सस्कृतियों की ठोस अनुभूति के द्वारा हमारे व्यापक जीवन के सत्य-सौन्दर्य से हमारा परिचय कराने में सशक्त है या नहीं, संसार की सभ्यता का आदान-प्रदान उसकी कल्पना में वह सूक्ष्म दृष्टि, वह कंपन, भरता है या नहीं, जिसका भाव स्पर्श पाकर हमारा भूत और भविष्य एक नये अर्थ से गौरवान्वित हो जाय और हमारे वर्त्तमान की आधारभूत प्रेरणाएँ और लक्ष्य अधिक स्पष्ट हो जायँ।

—सम्प्रति उसके क्षेत्र की परिमितता

आधुनिक प्राच्य कवियों की दशा देखकर इकबाल कहते हैं:—

मशरिक के नयस्तों में है मोहताजे नफ़स नै;
शायर! तेरे सीने में नफ़स है कि नहीं है?

अर्थात्—यह नीरव बाँसुरियों का जगल! मालूम नहीं, कवि के हृदय में कुछ बोलता भी है या नहीं! कवि का वैयक्तिक स्वर, कल्पना के तथ्यों तक वैयक्तिक पहुँच और उनकी गहरी अनुभूति का आभास उसकी वाणी में आज

हमें बहुत कम देखने को मिल रहा है। स्वर साधना का आधार बहुत परिमित और शब्द-योजना बहुत संकुचित है। न प्रतिभा में अन्वेषण का रोमांस है, और न उसके 'रोमांस' में कुछ दम। दो-चार कविताओं से ही कवि का ज़ोर नहीं मान लिया जाता, और न एकाध कवि से किसी युग का महत्त्व ही बढ़ जाता है, अथवा न ही दूसरे देशों से तुलना किये बिना अपने स्थान का पता चलता है।

अपने ज्ञान की परिमितता, अपने भण्डार की हीनता कवियों के लिये सचमुच शोचनीय है। अपने ही देश-इतिहास के किन-किन युगों का सजीव चित्रण हमारी खड़ी बोली का काव्य-साहित्य अब तक खड़ा कर सका है? हमारी आधुनिक सभ्यता का वास्तविक नग्न दिग्दर्शन हमें अपने किन हिन्दी छन्दों में मिला है? वह भीषण राग, जिसको सुनकर हमारे कान बधिर हो जायँ, कहाँ हमारी चेतना-शक्ति को जाग्रति से तेजपूर्ण करता है? ढोरों के वह बाड़े, जिन्हें हम भारतीय ग्राम कहते हैं, उनका वास्तविक रूप कौन आधुनिक कवि देखने-दिखाने में अभी तक सफल हुआ है? एक विषाद पूर्ण 'अभाव' है, 'शून्य' की 'नीरवता' है, कितने ही एकाकीपन हैं, एकाकार से होते हुए अतीत के अस्पष्ट स्वप्न है, बस, निराशा ही निराशा है—हृदय के मूक गान, सुख-दुःख के बुद्बुद। हमारी उर्दू में भी...लेकिन यहाँ कम-से-कम इकबाल का एक गम्भीर आधुनिक स्वर है जो वर्तमान सभ्यता के स्तर-स्तर को भेद जाता है। अकबर की शमा अब भी विदेशी प्रकाश पर हँस रही है। इस सूक्ष्म-द्रष्टा की चेतावनी थी कि—

'उर्दू में जो सब शरीक होने के नहीं,
इस मुल्क के काम ठीक होने के नहीं,
मुमकिन नहीं शेख़ अमरुल-क़ैस बने,
पंडितजी वाल्मीक होने के नहीं।'

('उर्दू' का अर्थ 'लश्कर' भी है। स्वर्गीय पद्मसिंह का इस रुबाई पर नोट—"यहाँ उर्दू से मुराद एक मुश्तरक ज़बान हिन्दुस्तानी से है, चाहे उसे उर्दू कहो या हिन्दी।") ख़ैर।

एक-दूसरे के वैभव से समृद्ध होने के अलावा और दूसरी एक चीज़ की हमारी व्यवहृत वाणी को आवश्यकता है, और वह है उस बुनियादी भाषा की, जिसकी खोज हमे गाँव-गाँव के शब्दों और महावरों में, कौम-कौम के रीति-रिवाजों के गीत-साहित्य में, और उनके जीवन के सुख-दुख, हास रुदन के भाव सम्बल में करनी होगी। कारण यही नहीं है कि शहरी साहित्य में अकृत्रिम पवित्रता के भाव स्वस्थ नहीं रह गये हैं, अपितु कल्पना के स्वल्प क्षेत्र को विस्तार देने, और शब्द, अर्थ, स्वर और लय की साधना को अधिक महान, अधिक पूर्ण बनाने के लिये उसकी वाणी की शक्तियों मे एक अद्भुत मन्त्र फूँकने की भी आवश्यकता है। और यही इस नवीन युग की साधना होगी।

आज एक उत्तरदायी कवि के समक्ष भारतीय सस्कृति केवल हिन्दू या इस्लामी सस्कृति नहीं है। इसके ताने-बाने को समझने, इस महान देश के आधार-रहस्य को प्राप्त करने में ही आधुनिक कवि-हृदय की पूर्णता और महत्ता है। दृष्टिकोण कुछ सकुचित करने पर भी ज्ञात होता है कि हम अपनी बहुत सी चीज़ों को अभी अपना नहीं सके हैं। 'विशाल भारत' के एक पिछले अंक में 'उर्दू की आधुनिक प्रगति' पर उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का एक लेख छपा था। कोई कारण नहीं कि इसमें उद्धृत तथा और अन्य बीसियों रचनाएँ हिन्दी साहित्य में सम्मानित स्थान न पाएँ। हाली की 'बेवा', 'बरखा रुत', 'हुब्बेवतन' इत्यादि, इकबाल की एक कविता, 'नया शिवाला', पजाब के कुछ आधुनिक कवियों ('हफ़ीज़' आदि) तथा मेरठ के 'सागर निज़ामी' के गीतों से हिन्दी के उस रूप का बहुत हलका-सा आभास मिलता है, जो उसके भविष्य की सम्पत्ति होगा। 'नवीन' की शब्दावली में भी उसकी मीठी झंकार कभी-कभी सुनायी दे जाती है।

पाश्चात्य कवियों से तुलना

यदि हम देखें कि पाश्चात्य कवि (मैं सिर्फ अँग्रेज़ी और अमेरिकन कविता के बारे में कह सकता हूँ), अपने कथानक, चरित्रों तथा वातावरण-चित्रण के लिये किस प्रकार देश-विदेश की भाषा, कला और जीवन के रूप रंग का सौन्दर्य तथा ज्ञान-विज्ञान के दुरूह-से दुरूह और नीरस-से-नीरस तथ्यों का

भावमय सत्कार करते हैं, तो हमें उनके वैचित्र्योन्मेषक दुस्साहस, उनकी कल्पना के सुविस्तृत क्षेत्र और छन्द, गति तथा लय की नवीनतम सृष्टियों को देखकर आश्चर्य-चकित रह जाना पड़ेगा। और हम अपने खास पड़ोसी की भाषा का भी रसानन्द लेने में भी मानो असमर्थ हैं।—शायद कारण यह भी हो कि वह बचपन से हमारे कानों में पड़ती रही है और हमारे हाट बाज़ार और दुकान-दफ्तर की भाषा है हमारी हिन्दी का ही रूप है, कितना ही 'अवैदिक' सही। और दूसरे कारण इकट्ठा करने में तो हमारे प्रान्तों के शिक्षा-विभागों ने जैसे अपनी सकीर्ण नीतियों के लम्बे इतिहास तैयार कर लिये हैं।

अस्तु, अब यह नहीं कि इगलैंड के पिछली शताब्दी के कवियों की काल्पनिक उड़ान का दम भरते रहने में या रवीन्द्रनाथ की तत्सम संस्कृत शब्दावलियों को उन्हीं के प्रतिस्वर में झकृत करते रहने में हम अपनी उत्कृष्टता समझते रहें, बल्कि यह देखें कि किस प्रकार वह योग प्राप्त हो जो हम अपने ही घर में गड़ा हुआ धन खोज और निकालकर अपने काम में ला सकें? केवल शब्दों को रेल-मेल लेने से नहीं, कुछ अनोखे भावों का पैवन्द लगा लेने से नहीं, बल्कि दोनों प्रमुख संस्कृतियों के इतिहास, धर्म, कला और साहित्य के एक साथ अध्ययन की शुरू से ही अनिवार्य और व्यापक व्यवस्था करने से ही वह मौलिक सरसता, आधारभूत सौन्दर्य की वह ग्रहण-शक्ति पैदा हो सकती है जो कवि-कृतियों में इस युग को सफल बनायेगी।

उर्दू कविता का आन्तरिक रूप

हमारे हिन्दी काव्य-जीवन से जिसका इतना गहरा सम्बन्ध है, उस भाषा के जिन दो-चार कवि-रत्नों को अपनाने का भाव हिन्दी-संसार ने दिखाया है, वे हैं 'नज़ीर', 'अकबर', 'हाली' और 'चकबस्त', और हाँ 'बिस्मिल' इलाहाबादी। अपनी विशेष कृतियों अथवा कविता में अपनी विशेष प्रवृत्तियों के कारण ही ये कविगण हिन्दी-जगत को रुचिकर लग सके हैं। शायद एक 'चकबस्त' को छोड़कर अन्य कवियों की प्रतिभा का पूर्ण या सच्चा रूप क्या हिन्दी पाठक वास्तव में देख पाये हैं?

इसके पीछे एक सामाजिक कारण है। अर्थात् सांस्कृतिक विभिन्नता-जनित

एक-दूसरे के प्रति विराग : जिसका एक बड़ा कारण स्वयं भारतीय साहित्य के शिक्षण की ग़लत प्रणाली भी है। तीसरे उर्दू के विषय में कुछ गलतफ़हमियाँ, उसके काव्यादर्शों तथा उत्कृष्ट कृतियों से अज्ञान। इस अन्तिम कारण पर संक्षेप में आगे चलकर बहस करेंगे। पहले तो यह देखें कि उर्दू कविता का स्वरूप क्या है। और इसके आकर्षण के मूल में क्या चीज़ है?

भावुकता के पक्ष से रूपक में इसको हम इस प्रकार समझ सकते हैं कि:—यह उस मर्माहता विषाद नगरी दिल्ली की भोली बालिका है, जिसने अपने बिखरे वैभव की कल्पना के कण्ठहार से इसे विभूषित किया। इसका शैशव दक्खिन में बीता। स्वर कुछ बचपन से ही करुण रहा है।—हाँ, जब इसने लखनऊ का ऐश देखा तो पलकों में विलास जाग उठा, और कपोल सुहास से खिल उठे। पर आज उसका यौवन स्वर बहुत गम्भीर—बहुत कोमल तथा मधुर—किन्तु बहुत गम्भीर हो गया है। उस परदेसी की-सी इसकी आत्मा है, जिसकी पूजा का सामान घर पर रह गया हो, एक वियोगी आत्मा है, जो अपने आपको भूल जाना चाहती है, इसीलिये इतनी आकर्षक है, किन्तु अपने खोए हुए प्यार को इसी देश में ढूँढ रही है, इसी देश के स्वरों में उसकी खोज लगा रही है। इसी में। हमारी बोल-चाल जो इसने सीख ली है, इसी में इसकी-हमारी आत्मीयता है। मीर को कितना गर्व है इसपर—

गुफ्तगू हमसे रेख़्ता में न कर!
यह हमारी ज़बान है प्यारे!

'रेख़्ता', अर्थात् उर्दू। ग़ज़ल के शेरों में इस भाव के एक-एक मोती को हृदय से लगाकर रखते जाते हैं। उन्हें एक सम्बन्ध-गुण मे पिरोकर उनकी माला गूँथने का मानो हमारे जीवन से अवकाश नहीं।—हाँ 'मसनवी' का ढंग अलग है:—उसका हर शेर उर्दू की एक चौपाई समझिये। और 'मर्सियों' की बात भी न्यारी है; क्योंकि उसकी षट्पदी प्रबन्ध-काव्य के प्रवाह में ढलती है। मर्सिये...धर्म के शहीदों पर चढाये हुए ये हार उस दुनिया की चीज़ है, जिनसे जीवन का अनन्य लगाव है। इनके अलावा, लोकपालों की प्रशस्तियाँ 'कसीदे' कवि-कला कौशल का आदर्श और दरबारों की मनोरंजन सामग्री मात्र रही हैं। ऋतु-वर्णनादि में इन्हीं दोनों दृष्टिकोणों का सामंजस्य हो गया है।

उदू कविता का बाह्य रूप, छन्द, आदि

उदू स्वर और ध्वनि से हिन्दी जगत अपरिचित नहीं। नाथूराम 'शंकर' और भगवानदीन 'दीन' आदि उससे छन्द और महाविरो का चस्का ले चुके है। मैथिलीशरण गुप्त, भगवतीचरण वर्मा और गोपालशरण सिंह की कविता पर उसका प्रभाव पड़ा है, तथा अधिक मौलिक रूप से और कुछ अधिक सफलतापूर्वक आजकल बच्चन हमें उसका रसास्वादन करा रहे हैं। जो कविता प्रेमी सवैया और घनाक्षरी की गति-लहर पर एक बार मुग्ध हो चुके हैं, उन्हें शायद खड़ी बोली के मात्राओं में बँधे हुए छन्दों में वह आनन्द मुश्किल से मिलेगा, जो उन्हें व्यजनों के साथ स्वरों की सिकुड़-फैलकर घुलती हुई लय में मिला है। उदू में मात्रिक छन्द होते ही नहीं। 'हिन्दी तर्ज' में गाते समय भी उदू कवियों ने गति और लय पर ध्यान दिया है, मात्रा पर नहीं, जैसे—

प्रेमनगर से आयी मैं दासी,
पट मन्दिर के खोल !

('सागर')

यह मानना पड़ेगा कि छन्दों का—विशेषतः लम्बे छन्दों का—अपना विशेष आकर्षण होता है। [भावों के उद्रेक और पोषण में इसका प्रभाव कितना अधिक है इसके विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं] इसलिये इसका मोहक उदाहरण 'प्रिय प्रवास' है। उदू की बाज़ लम्बी बहों की गति भी ऐसी ही द्रावक और माधुर्यपूर्ण है:—(फारसी काव्य का गुण)—यद्यपि रूप इनमें कई छन्दों का हिन्दी ही है। मसलन् इस छन्द में—

मेरी आँख बन्द थी जब तलक, वो नज़र में नूरे-जमाल था ;
खुली आँख, तो न ख़बर रही कि वो ख़्वाब था कि ख़याल था।

प्रत्येक ठहराव पर भाव अधिक पूर्ण होता जाता है, जिससे अर्थ में स्वतः एक गहनता पैदा होती जाती है। ऐसी ही प्रभावोत्पादक वह गज़ल भी है, जिसकी करुण पंक्ति है—

कभी आके मेरे मज़ार पर, जो दिया किसी ने जलाँ दिया

अथवा इसमें—

दिया अपनी खुदी को जो हमने उठा
वा' जो पर्दा-सा बीच में था, न रहा,
रहे पर्दे में अब न ब' पर्दानशीं
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा।

जहाँ स्वरों को एक दूसरे से मिलकर चलना पड़ता है, और पद के विस्तार में जहाँ कल्पना के लिये नीति की ओर झुकना ही उपयुक्त जान पड़ता है।

दिल ही तो है, न सगो-खिश्त, दर्द से भर न आये क्यों
रोयेंगे हम हजार बार, कोई हमें सताये क्यों

इसमें गति दो लहरों की तरह बार-बार मिलती और हटती जान पड़ती है; भाव भी स्वाभाविक रूप से उसी का अनुसरण करते हैं।

इस छन्द का लोच भी अपूर्व है—

य' न थी हमारी किस्मत कि विसाले-यार होता
अगर और जीते रहते, यही इन्तज़ार होता।

इकबाल इसी छन्द में कहते हैं—

दिले-मुर्दा दिल नहीं है, इसे ज़िन्दा कर दुबारा
कि यही है उम्मतों के मरज़े-कुहन का चारा

आधुनिक दौर में छन्दों का महत्व

गति और छन्द का महत्व जितना आज बढ गया है, उतना पहले कभी नहीं था; कारण, (श्रीमती महादेवी के शब्दों मे) यह युग गीति-प्रधान युग होता जा रहा है। उर्दू में भी यही बात है। भावों को अधिकाधिक रागमय करने, सूक्ष्मातिसूक्ष्म अभिव्यक्ति के लिये उपयुक्त व्यंजना ढूँढ़ने तथा कल्पना को मधुरतम स्वर-विन्यास देने की ओर ही हमारे कवियों का प्रयत्न है। इस दौर से गुज़रना आवश्यक है। अस्तु, उर्दू में इसके सुन्दर प्रतिनिधि साग़र, हफ़ीज़, तथा उत्कृष्ट कलाकार जोश और इकबाल हैं, यद्यपि इकबाल के नग़्में बहुधा सहज ही गेय नहीं हैं, तथापि उनके पदगति और लय के आन्तरिक

माधुर्य से चमत्कृत हैं। गम्भीर विषयों के चुनाव के कारण ही यह बाहरी अन्तर पड जाता है।

(२)

उदू' में ग़ज़ल का स्थान

ग़ज़ल वास्तव में उदू' कविता की जान है। और यह हमेशा गाने की ही चीज़ रही है, अन्यथा इसको ग़ज़ल माना ही नहीं गया है। महफ़िलों और साहित्यिक गोष्ठियो का यह ख़ास अवलम्ब रही है। इसीलिये अगर 'मर्सिये' का विचार थोड़ी देर न करें, तो आदि युग को छोड़कर, उदू' काव्य ग़ज़ल का इतिहास मात्र रह जाता है। यह ईरानी सस्कृति का ख़ास तोहफा है जो बहुत व्यापक अर्थ में यहाँ कबूल हुआ। दरबारी सभ्यता के चिह्न इसमें विशेष हैं—कवि एक ही भाव में दिमाग को नहीं उलझाता। रग-रग के भाव-चित्रों में प्रेम और सौन्दर्य की बहार दिखाकर कवि अपनी सुरुचि और रस मर्मज्ञता का प्रमाण देता है। किसी विषय की व्याख्या करने का इसमें अवकाश नहीं। एक मार्मिक सकेत और बस, दूसरा मार्मिक संकेत और बस। एक-एक बात में एक-एक रस द्वारा हृदय को पिघलाती हुई ग़ज़ल पूरी हो जाती है। जीवन के सभी अनुभवों को स्पर्श करती हुई यह प्रत्येक के हृदय में अनायास ही इस प्रकार प्रतिस्वरित हो उठती है कि इसका स्फुट रूप, शेर की एक-दूसरे से असम्बद्धता अत्यत उपयुक्त और स्वाभाविक जान पड़ती है। सम्बोधन का जो परोक्ष भाव शाश्वत रूप से इसमे निहित रहता है, उसके आधार पर कवि और श्रोता में एक गम्भीर और सच्चा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। युग-परिवर्तन के साथ-साथ सुसस्कृत होकर ग़ज़ल में आज प्रत्येक विषय का समावेश सम्भव हो गया है, किन्तु है यह पूर्व-परिचित शृङ्गारिक लक्षण के आधार पर ही, चाहे वह नाम-मात्र को ही क्यों न हो, तथापि उसका सकेत व्यापार इतना गूढ हो गया है और अनुभूतियाँ ऐसी सूक्ष्माभिव्यक्ति ढूँढती जान पड़ती हैं कि प्रत्येक विशिष्ठ कवि एक प्रकार के आध्यात्मिक रग में रग गया-सा दिखायी देता है। साथ ग़ज़ल की सम्मानित परम्परा ने शब्द सगठन और लोच, तथा मुहावरा-बन्दी और सफाई का महत्व बढाकर उसे अधिक क्लिष्ट होने से काफ़ी बचाया।

कवियो ने, विशेषतः लखनऊ और रामपुर में, भाषा की कोमलता में वह चपलता, भावों में वह शोखी भर दी कि अन्यत्र इसका जवाब मुश्किल से मिलेगा।

ग़ज़ल का प्रभाव उर्दू काव्य के और सब अंगों पर बहुत गहरा पड़ा है। ग़ज़ल की भाषा ओजपूर्ण बनाकर, उसमें एक ही विषय का विधिपूर्वक सविस्तार प्रतिपादन करने से वह 'क़सीदा' हो जाता है, जिसमें सम्मानदाताओं की प्रशंसाएँ, विविध प्रकार के वर्णन, सन्तों की स्तुतियाँ ईश वन्दना आदि विषयों का समावेश होता है। 'क़सीदों' में बहुधा कवियों ने अपना असाधारण भाषा-ज्ञान, अपूर्व कला कौशल और कल्पना का ज़ोर ही दिखाया है।

यही गुण षट्पदी (मुसद्दस) में संचारी भावों का योग देकर जब करुणा रस का परिपाक करते हैं, तब 'मर्सिया' का प्रसिद्ध रूप प्राप्त होता है, जीवन की खुली हुई मार्मिक आलोचना इन्हीं सजीव वर्णनों में मिलती है। यह भी उर्दू की विशेष सम्पत्ति है। धार्मिक कविता का स्थान इन्हीं के अन्तर्गत आता है। चकबस्त के आधुनिक मर्सिये भी इन्हीं की परम्परा का आधार लिये हुए हैं। इसके सर्वोत्कृष्ट कवि को तो उर्दू का तुलसीदास ही कहना चाहिये। एक और काव्य रूप, 'मस्नवी', के वर्णनात्मक छन्दों की तुलना हम ऊपर चौपाई से कर चुके हैं। प्रेम विषयक खण्ड काव्यों की रचना इन्हीं छन्दों में हुई हैं; जिनमें मीर हसन का 'सहरुल बयान' और मुं० दयाशंकर नसीम का 'गुल्ज़ारे-नसीम' अमर है।

(२)

उर्दू कविता की ऐतिहासिक रूप-रेखा

उर्दू कविता का इतिहास दक्खिन में १६ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में धार्मिक पद्य-निबन्धों और 'मर्सियों' से ही शुरू करना होगा, यद्यपि सबसे प्रथम अमीर खुसरो का नाम ले लेना आवश्यक है। दक्खिन के शाहों की रसिकता और काव्य-मर्मज्ञता स्वयं उन्हीं की प्रशस्त रचनाओं से प्रमाणित हैं। अपने समय की बड़ी मीठी और मुक्त भाषा में ये लोग रचना करते थे : 'मन क़ुरान' (लगभग १७५० ई०) के दो पद्य हैं:—

ए ! रूप तेरा रती रती है—
परबत परबत, पती-पती है !
परबत मे आके, न कम पती में ,
थकसार है राख होर् रती में ।

दखिन के इन प्राचीन कवियों में अभिव्यक्ति का वह हिन्दी रूप मिलता है, कुछ वह उच्चारण, वह मुहाविरा, जिनको पश्चिम यू॰ पी॰ के गाँवों में हम अब भी सुन सकते हैं, जैसे, 'कस्या', 'मिल्या', 'होर' (और) इत्यादि ।

'वली' दखिनी जब दिल्ली गये तब वहाँ उर्दू कविता ने रंग पकड़ा । मोहम्मदशाह रँगीले के इस युग मे कवियों ने फ़ारसी आदर्शों से होड़ लेना आरम्भ कर दिया । फ़ारसी इनमें अधिकांश की मातृ भाषा थी । उनमें जो-जो बातें इन्हें लुभाती थीं, उनका जवाब 'रेख़्ता' यानी उर्दू में उपस्थित करते थे ।

इसी युग में फिर 'मीर' आते हैं, और 'सौदा' और 'दर्द' । भाषा में 'बोलचाल' का सरस अछूतापन, उसके साथ भावों की अत्यन्त स्वाभाविक अभिव्यक्ति—विशेषतः 'मीर' का प्रेम-दर्शन, तथा 'सौदा' का मानव-प्रकृति-परिचय, इमें जिस प्रभाव और सत्यता के साथ मिलता है, उसने उन्हें उर्दू में युग-युग के लिये आदर्श बना दिया है । दिल्ली जब उजड़ी तो इन लोगों ने लखनऊ आबाद किया , और अपने सामने ही वह नया स्वाग—इसे स्वाग ही कहना चाहिये—देखा, जिसमें कवियों की अपूर्व प्रतिभा और असाधारण लोक-ज्ञान ने, 'मीर' और 'दर्द' के गम्भीर-गहन आदर्शों को भुलाकर, लखनवी दरबारों की मसखरी सीखी, और बाज़ारी प्रेम और भड़ौवेपन की नयी राह निकाली । ससार मे इन विषयों को ऐसे उत्कृष्ट कवि न मिले होंगे, जैसे प्रकाड पडित और रसिक 'इंशा' और 'मसहफ़ी'; जो गर्मागर्म महफ़िलों में फुलझड़ियाँ-सी छोड़ते या बाज़ारी दिल्लगी की चोटें करते हैं । मगर इनके कितने ही छिट-पुट नमूनों में इनकी प्रतिभा के तेवर कहते हैं कि 'समय की गति प्रतिकूल है, नहीं तो हम क्या-क्या ललित-काव्य न लिखते, सगीत की कैसी कैसी धारा न बहाते, प्रकृति का कैसा-कुछ दिग्दर्शन न कराते कि जो हमारे युग की यादगार होती !' किन्तु प्रतिभा की सर्वोन्मुखी उठान की इस लहर के ज़ोर को परिस्थितियों के चट्टान ने तोड़कर हास्यापद बना दिया ।

इसके बाद जब लखनऊ में 'आतश' और 'नासिख' के अखाड़े जमते हैं, और पराधीन बहादुरशाह 'ज़फ़र' को दिल्ली में उस्ताद 'जौक', मिर्जा 'गालिब' और हकीम 'मोमिन' अपनी अपनी गजलें या कसीदे सुनाते नज़र आते हैं, तब यह कला सहज-साध्य सी रह गयी नहीं जान पड़ती। (एक-मात्र वह बहेलिया रागी, वह दरबारी परम्पराओं से विमुख मियाँ 'नजीर' ही लेखक के उपरोक्त कथन का अपवाद है, जिसके स्वच्छन्द काव्य जीवन को ऋतु-बार, तीज-त्यौहार मेले-पर्व आदि आते-जाते हुए अपने राग से मानों स्वयं रागमय कर जाते हैं।) अस्तु, कहीं तो कवि-हृदय भाषा की सुघराई और मृदुलता के लिये विह्वल है—जैसे 'जौक' और 'जफ़र' में, कहीं अलकारों की आबोताब या भावों की मस्ती उसे मोहे लेती है—जैसे 'नासिख' और 'आतश' में, और कहीं सांकेतिक अभिव्यक्ति की मार्मिकता तथा अर्थ-वैभव का स्वप्न आँखों को विभोर करता है—'मोमिन', विशेषतः 'गालिब' में, इन कवियों की वाणी में कविता का हंस कुछ खोजने उड़ चला है। और बहुत ऊँचे उड़ चला है। कहीं तो उसे कुछ मिला है; जैसे, 'आतिश' में छवि सत्ता का विश्वास या 'जफ़र' में करुणा का व्यापक-माधुर्य; और कहीं उसे कुछ नहीं, अथवा बहुत कम मिला है:—जैसे 'जौक' और 'नासिख में, लोक-नीति ज्ञान, और फिर, कहीं—जैसे 'गालिब में, और यदा-कदा मोमिन में भी, वह इतना अधिक कुछ देख पाया है कि भावाधिक्य से उसका स्वर असाधारण हो उठा है कि उसकी वैचित्र्यमय अनुभूति से हमारे आन्तरिक जीवन के भाव-नेत्र जिज्ञासु होकर खुल जाते हैं।

इन महाकवियों के शागिर्दों ने जो कुछ गुरुओं से सीखा और अपने शागिर्दों को सिखाया, वही देश के नये राजनीतिक संस्कारों से मिलकर उर्दू का वर्तमान काव्य साहित्य है। 'जौक' के उत्तराधिकारी दाग़ ने साधारण बात-चीत में एक असाधारण आकर्षण भर दिया और सामान्य प्रेमालाप में एक ऐसी गुदगुदी-सी भर दी, जो नयी थी, और जिसने उर्दू जगत में कवियों का एक गुलिस्तान-सा जगा दिया। ठीक इसी समय हाली ने अपने सीधे सादे स्वर में—किन्तु जिसकी मार्मिकता उन्होंने 'ग़ालिब' से प्राप्त की थी—एक नया राग अलापा, 'यानी वतन, कौम और समाज-सेवा का राग। शायद यही एक

उर्दू कवि है, जिसकी रचनाएँ बिना किसी भूमिका के हर विदेशी समझ लेता है। कुछ इस उर्दू काव्य-भाषा का संस्कार ही ऐसा है। अस्तु, मननशील इकबाल पर इसका असर पड़ा। उसकी कल्पना व्यग्र हो उठी। इधर 'अकबर' इलाहाबादी ने नयी रोशनी के उजाले में देश की जो अवस्था देखी, उस पर उसे हँसी आ गयी। बात कुछ ऐसी थी कि अपने ऊपर हम स्वयं भी हँस पड़े। और, एक देश के पुजारी ने 'आतश' की सौन्दर्य-सत्ता को देश की स्वाधीनता की भावना में प्रतिष्ठित किया, और सकरुण आशा से उसकी आरती की। ये ब्रजनारायण चकबस्त थे।

समाधुनिक कवियों में जोश के प्रकृति और मानव-स्वभाव के सुन्दर स्वाभाविक चित्रण से हमें अँग्रेजी कवियों की याद आने लगती है। उनमें शेली और बायरन का सा सम्मिश्रण है। अन्य विशिष्ट कवि गण, जैसे 'असग़र', 'फ़ानी', 'जिगर' आदि ग़ज़ल की मार्मिक लहरों में अपने-अपने हृदय का लेखा ले रहे हैं। परम्परा इनमें कीर्तिमान है। इनकी अनुभूतियाँ मार्मिक और करुण रस से ओत-प्रोत है तथा अभिव्यक्ति बहु रागमय है।

उर्दू कविता की विशेषताओं पर ऐतिहासिक दृष्टि

उर्दू कविता का यह इतिहास चार शताब्दी पुराना भी न होगा। इसकी भाषा ने इतने रूप नहीं बदले हैं, जो विशेष व्याकरणों की ज़रूरत पड़े। धार्मिक और सामाजिक संस्कारों में परिवर्तन की विभिन्नता बहुत नहीं झलकती। उस पर, स्थिर रूप से ईरानी आदर्श आधार स्तम्भ बने रहे, और उसका अपना स्वत्व अनुकरण की कृत्रिमता से अनुरंजित हो गया; फलतः विशेष प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही अपने वैयक्तिक रूप हमें दिखा सके, जैसे, 'सौदा', 'मीर', 'आतश', 'ग़ालिब', 'दाग' आदि। कल्पना उपमा-उत्प्रेक्षा के परों पर जिस वायु-मण्डल की सैर करती रही, वह बहुत दूर था, जहाँ प्रेम की रीति यहाँ से निराली और सुख-दुख के स्वप्न विभिन्न अर्थों की आभा लिये हुए थे। पर, मानव हृदय तो कहीं भिन्न नहीं है। इसलिये अपने ही व्याकरण में उसका बोल सुनकर उसे अपना आत्मीय कहना ही हमारी सभ्यता को मान्य हुआ। और 'हाली' के समय से तो इस देश का अन्न-जल उसके शरीर में ऐसा रसता गया

कि हिन्दी का यह रूप नये निखार पर आने लगा। इसकी विशेषताओं को शाही दरबारों और शहरी तकल्लुफ ने, प्रचलित मुशायरों की आबो-ताब के योग से और भी प्रखर और प्रशस्त किया, तथा, उस्तादी और शागिर्दी की पुरानी प्रतिष्ठित प्रथा ने भाषा को अत्यधिक शुद्ध और सुडौल बना दिया, इतना कि चीनी और फ्रेंच और फ़ारसी को छोड़कर संसार की किसी भी काव्य भाषा को इस गुण पर ईर्ष्या हो सकती है। इसमें एक ऐसी शोखी आ गयी, जो इसकी विशेषता है और जिसका अन्यत्र कहीं जवाब नहीं, और अब यह गुण इस भाषा में आकर ठहर गया है * परम्परा जन्य भाषा के इस रूप की रंच-मात्र अवहेलना भी आज उर्दू जगत में सहन नहीं की जा सकती।

उर्दू कविता का अनूठापन

हिन्दी साहित्य रसिकों के असन्तोष का यह कारण नहीं होना चाहिये कि ऐसी भाषा में गम्भीर गुरुता और गहनता का अभाव है: 'मीर', 'दर्द', अनीस', 'दबीर', 'ग़ालिब', 'हाली' और 'इकबाल' का कलाम ही इस शंका का समाधान कर देता है। यह सत्य है कि पिछली शताब्दी का पूर्वार्द्ध उर्दू कविता का रीति-काल ही है। पर इसके भाव-संसार की सीमा 'गुल', 'बुलबुल', 'शमा', 'परवाना' आदि शब्दों से स्थिर करना इनके गूढ अर्थ संकेतों की व्यापकता को समझने से इन्कार करना है। ग़ज़ल का कठिन रूप सुरक्षित रखते हुए भी अगर अनुवाद में इन अर्थ-संकेतों की व्यापक सरसता का आभास दे सकना सहज सम्भव होता, तो उर्दू काव्य भाषा का अनूठापन अन्य भाषा-भाषी भी देख सकते, और इस दृष्टि से इसकी तुलनात्मक विवेचना अधिक सार्थक होती। ग़ज़ल अपनी भाषा के विशेष माधुर्य के बल पर ही ग़ज़ल कहलाती है। इसी का इतिहास बड़े अंशों में उर्दू काव्य का इतिहास है।

कई महत्व की चीज़ें फिर भी उर्दू में अभी नहीं, यह निस्संकोच मानना पड़ेगा। जैसे एक वास्तविक महाकाव्य या जैसे नाटक-काव्य। अनीस के मर्सियों को मिलाकर हम उन्हें महाकाव्य नहीं कह सकते। हाँ, एक हफ़ीज़ जालंधरी

*उर्दू कविता में हास्य रस भी एक बड़ी विभूति है। 'सौदा', 'इंशा' और 'अकबर' ने इस रस-वाटिका का कोना-कोना खिला दिया है।

का 'शाहनामाए-इस्लाम' है, जो अभी-अभी प्रकाशित हुआ है।* इसी प्रकार मानव-समाज और जीवन के सैकड़ों अंग तथा प्रकृति संसार में अनगिनती ऐसे दृश्य हैं जिनका चित्रण अभी न उर्दू में है, न हिन्दी में। उर्दू कविता में हिन्दी की बहुत-सी चीजें नहीं हैं। वहाँ सूरदास और मीरा की पागल प्रेम-विह्वलता नहीं, और न यहाँ कबीर का अनहद नाद है। संसार के कितने ही उत्कृष्ट कवियों का सादृश्य यहाँ नहीं मिलेगा। लेकिन क्यों मिले? अपनी संस्कृति-जन्य इसकी अपनी प्रेरणाएँ, सौन्दर्य की अपनी साधनाएँ और अभिव्यक्ति के अपने योग हैं। सत्य-सौन्दर्य-आनन्द-प्राप्ति की इसकी अपनी सफलताएँ हैं और वे अद्वितीय हैं। बहुत अल्पायु होते हुए भी काल के संघर्ष से और विशेषतः आधुनिक युग में इसने देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों को अपने भाव स्पन्दन में जो सुन्दर अभिव्यक्ति की है, उसके सम्बन्ध में अकबर, चकबस्त, इकबाल और जोश का नाम लेना पर्याप्त है। इससे इस युग में उर्दू काव्य को अभूतपूर्व गौरव प्राप्त हुआ है। इधर ठेठ भाषा में गीत लिखने की ओर भी प्रयास हुआ है। आज उर्दू कविता का क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत व्यापक है। समय का आदेश है कि इससे अब हम पूर्णतः अभिज्ञ हों। और उन रसों, उन कला वृत्तियों और अनुभूतियों के प्राण तत्त्व को अपनी भाषा में खींचें, जो इसको अधिक ठोस और व्यापक, अधिक अर्थपूर्ण विस्तृत और वैभवपूर्ण बना सकें।

['भारत',... १९३७, या' ३८ आरम्भ]

अली सरदार जाफरी का 'नयी दुनिया के सलाम' उर्दू में शायद पहला काव्य-नाटक है, जो पिछले साल (१९४७) प्रकाशित हुआ है।

फुटनोट : उर्दू शायरी का आधुनिक रंग

यों जान-बूझकर तो नहीं, लेकिन कुछ समझ-बूझकर बहकाना और बहक जाना—यही तो शायरी है। हाँ, यह नशा, जीवन के प्याले का-सा गहरा तो नहीं, लेकिन है उससे तेज़। और आज भी तेज़ है। और ज़मानों और दुनियावालों का दौर इसे अभी और गहरा ढालेगा—और तेज़ बनाकर।

दिगरगूँ है जहाँ, तारों की गर्दिश तेज़ है साकी।
दिले-हर ज़र्रा में गोगाए-रुस्ता खेज़ है साकी।

—इकबाल

(दुनिया का नक़्शा बदल रहा है, हर ज़र्रे के दिल में प्रलय का शोर है।)

कुछ इसी की भनक सी हमारे कानों में पड़ती है। कहीं तीव्र, कहीं मद्धिम, जब हम आधुनिक उर्दू छन्दों को गुनगुनाते हैं, या मन-मन में भी पढ़ते हैं। 'जोश' और 'रविश' और साग़र को तो जाने दीजिए, उनके यहाँ तो समाजवाद के 'नक्कारे' बज रहे हैं। ग़ज़ल-गोयों को ही ले लीजिए—कि जिनमें एक बूँद समुन्दर का तूफ़ान बनना चाहती है, अगर बन सकती है तो। जी! एक संकेत में समाज और मानव-हृदय और उसके अन्दर अनन्त की बातें कह-सा जाना, और फिर उसमें कभी-कभी बीसवीं का भ्रम खोलने लगना, अथवा इन सबसे दिल हटाकर किसी एक तनहा बुलबुल के राग में या किसी अकेले खामोश गुल के बिखरते हुए रंग में विभोर होकर जीवन सुख की बहार और खिज़ाँ के दर्द से परिपूर्ण हो उठना—बस यही संकेत तो ग़ज़ल का एक शेर है। अस्तु हमें कुछ समझाकर बहका ले जाने के लिये यही संकेत काफ़ी है। मसलन देखिये:—

मज़हब की खराबी है, न अखलाक की पस्ती
दुनिया के मसायब का सबब और ही कुछ है।

('अखलाक'—नैतिकता, मसायब—मुसीबतें)

इक ख़्वाबे-परीशाँ से हैं इस दौर के आसार ,
हुशियार कि अब रंगे-जहाँ और ही कुछ है ।
एहसास, सब एहसास है यह रंजो-ख़ुशी क्या,
ए इश्क़, तुझे काम अहम और ही कुछ है ।

—'फ़िराक़'

'सैले-ज़माना' पर एक कवि पूछता है—

किसे ख़बर है कि हस्ती का मुद्दआ क्या है ?
क़ज़ा का सिलसिला यह क्या है, औ' क़ज़ा क्या है ?
ये' वक़्त क्या है, फ़लक क्या है, औ फ़िज़ा क्या है ?

मगर कोई उत्तर नहीं मिलता । फिर फिरकर यह सब खेल अपने हृत्पटल पर समाप्त हो जाता है । हज़रत नज़्माफ़न्दी कहते हैं:—

संसार की रीत, नापी-जोखी सुमिरन,
माला का वो फेर, वह अनोखी सुमिरन,
हम जानें सखी हमारा साईं जाने—
मन की सुमिरन है सबसे चोखी सुमिरन ।

[चित्रपट, १८ जनवरी, १९३६]

इकबाल की कविता

उर्दू और फारसी की कविता के इतिहास में ग़ालिब के बाद हम इकबाल के अतिरिक्त और कोई दूसरा प्रसिद्ध नाम नहीं ले सकते, और आधुनिक युग में भारत के रवीन्द्र और इकबाल ही दो कवि हैं, जिनको ससार ने अपने महाकवियों में स्थान दिया है। आज वे उन अमर सत्त्वों के साथ एक हो गये हैं जो समय के असित प्रवाह में समुज्वल रूप से चिरकाल के लिये स्थिर हैं। ससार की कुछ विभूतियों के लिये हमें अतिशयोक्ति का प्रयोग करना पड़ता है; क्योंकि यदि वे कवि हैं तो केवल कवि ही नहीं हैं, यदि वे राष्ट्र के निर्माता हैं केवल राष्ट्र के निर्माता ही नहीं हैं, दार्शनिक हैं तो दार्शनिक के अतिरिक्त और भी कुछ हैं। जीवन की गति-विधि को मोड़ने, देश की सस्कृति को अधिक परिष्कृत और माधुर्यपूर्ण करने, मनुष्य के वर्तमान को अधिक मूल्यवान बनाने, उसके भविष्य को अनन्त ज्योति की सत्ता से अधिक सजीव करने का पुण्य श्रेय इन्हीं आत्माओं को प्राप्त होता है।

दार्शनिक इकबाल

मनुष्य का जीवन कितना विवश है, उसे सँभालने, उसे आशा की सात्वना से शात, सशक्त और मगलमय करने की कितनी आवश्यकता है, यह युग-प्रवर्तक कवियो की वाणी के स्वर और कपन, उनकी विह्वल आशाओं, उनके प्राणों की असह्य वेदना से ही कुछ कुछ हम जान सकते हैं।

अपनी एक शुरू की कविता में इकबाल कहते हैं कि मुझे इस तमपूर्ण ससार में हृदय-हृदय के अन्तर प्रकाश की दीपावली करनी है—

'जलाना है मुझे हर शमए-दिल को सोजे-पिन्हाँ से,
तेरी ज़ुल्मत में रौशन चिराग़ों करके छोड़ूँगा।

इस समय तक इकबाल योरप नहीं गये थे। आँखों में देश की स्वतन्त्रता का स्वप्न था ? और हृदय में स्वदेश-प्रेम का दर्द। नवयुवक कवि को अपनी

उच्चाकांक्षा और कल्पना के विहार के लिये एक क्षेत्र मिल गया था। अपनी वाणी के द्वारा देश की सब जातियों को 'प्रेम के एक सूत्र में बाँधना ही कविने अपना लक्ष्य बनाया—

'पिरोना एक ही तस्बीह के इन बिखरे दानों को—
जो मुश्किल है तो इस मुश्किल को आसाँ करके छोड़ूँगा!'

इस प्रेम सूत्र के द्वारा अपनी निहित शक्तियों को जानने और वाह्यज्ञान प्राप्त करने के लिये कवि विकल है। वह विश्व की एकता का मनुष्य और प्रकृति में, जड़ और चेतन में, सब में प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है।

'वस्तए-रंगे-खसूसियत न हो मेरी ज़बाँ;
नौए इन्साँ कौम हो मेरी, वतन मेरा जहाँ,
दीदए बातिन प राज़े नज़्मे- कुदरत हो अयाँ,
हो शनासाए-फ़लक शमए-तख़य्युल का धुआँ,
उकदए-अज़दाद की काविश न तड़पाए मुझे,
हुस्ने-इश्क-अंगेज़ हरशै में नज़र आए मुझे!'

अर्थात्—गुण-भेद के बंधन में मेरी वाणी न फँसे, बल्कि मानव-मात्र को मैं अपनी जाति और संसार भर को अपना वतन समझूँ, प्रकृति के रहस्य मेरे अन्तर-चक्षुओं पर प्रकट हों, मेरी कल्पना का दीप-धूप आकाश की गहनता से परिचित हों,—मै विभिन्नता की समस्याओं में पड़कर विकल न रहूँ, बल्कि वस्तु-वस्तु में मुझे प्रेममय सौंदर्य दिखायी दे।

दीपक का प्रकाश सब स्थानों में एक-सा रहता है, किन्तु मनुष्य का हृदय तो मन्दिर-मस्जिद के भेद-भाव में फँसा हुआ है, अस्तु कवि खिन्न होकर कहता है—

'काबे में बुतकदे में है यकसाँ तेरी ज़िया,
मैं इन्तियाज़े -दैरो-हरम में फँसा हुआ!'

किन्तु—शमा हुई, चाँद हुआ, सूर्य हुआ; ये अपनी हकीकत को नहीं जानते, जानने-समझने की मनुष्य की सी विकल क्षमता भी इनमें नहीं। इस ज्ञान से कवि को कुछ सान्त्वना मिलती है और अपने पथ की ओर संकेत भी—

'फिर भी ए माहे-मुबीं ! मैं और हूँ, तूँ और है !
दर्द जिस पहलू में आता है व' पहलू और है !'

—'चाँद'

वह अपनी विह्वलता के दर्पण में चिर-मिलन का आकर्षण देखकर तन्मय हो जाता है। वास्तव में अंतर की विकल आकाक्षा जिसे प्राप्त करना चाहती है वही सत्य है, शाश्वत है, वही सच्ची स्वाधीनता है, वह वस्तु-वस्तु के भेद से परे है और ज्ञानातीत है, किंतु प्रेमी को वह सुलभ है।

'जो तू समझे तो आज़ादी है पोशीदा मोहब्बत में
.गुलामी है असीरे इम्तियाज़े-मा-व तू रहना !'

अर्थात्, 'मैं' और 'तू' के भेद में बँध जाना ही पराधीनता है।

'जलाना दिल का है गोया सरापा नूर हो जाना
य' परवाना जो सोज़ाँ हो तो शमए-अंजुमन भी है'

अर्थात् यह उर-शलभ .यदि जल उठे तो यही समा का दीप—सपूर्णतः ज्योतिर्मय हो जाय!

हृदय मस्तिष्क से कहता है—

'इल्म तुझसे, तो मारफत मुझसे—
तू .खुदा-जू, खुदा-नुमा हूँ मैं !'

[मारफत—ईश्वर की पहचान] अर्थात्, तू ईश्वर का खोजी सही, उस ओर पथ-प्रदर्शक मैं ही हूँ।

'तू मकानो ज़माँ से रिश्ता-ब-पा
तायरे सिद्रह आशना हूँ मैं !'

[सिद्रह—सातवें आकाश का एक विटप] अर्थात् तू काल और स्थान के पग बधनों में पड़ा है, किन्तु मेरे पंख स्वर्ग के अतःतम उपवनों से परिचित हैं।

उसकी .सूक्ष्मदर्शी कल्पना उस अवस्था में जब कुछ क्षण के लिये उसे पहुँचा देती है तब वह आश्चर्य और द्विधा से पूछ उठता है—

'मैं हुस्न हूँ कि इश्क सरापा-गुदाज़ हूँ
खुलता नहीं कि नाज़ हूँ मैं या नियाज़ हूँ।'

अर्थात् मैं पूर्णतः द्रवित प्रेम का स्वरूप हूँ अथवा पूर्ण सौंदर्य ? समझ में नहीं आता कि मैं स्वयं नाज़ हूँ अथवा नाज़ उठाने वाला !

नवयुवक इकबाल की इस बेताली, जोश और तड़प से हम पहले पहल 'तस्वीरे दर्द' में प्रभावित होते हैं। कवि के स्वदेश-प्रेम, मानसिक तथा आध्यात्मिक स्वतंत्रता के लिए उसकी महत्त्वाकांक्षा और उसकी ओर प्रेरणा, एकता और प्रेम की अद्भुत विश्व-विजयिनी शक्ति और चमत्कार—इन सबका सुन्दर दिग्दर्शन इसमें होता है। और फिर कैसी प्रवाहमय, ओज-पूर्ण भाषा में प्रबल कल्पना द्वारा इस भाव-शृंखला का पोषण हुआ है ! कुछ शेर देखिए—

नहीं मिन्नत कशे-ताबे-शुनीदन दास्ताँ मेरी
खमोशी गुफ्तगू है, बेज़बानी है ज़बाँ मेरी !

किसी में सुनने की ताब हो, ऐसी मेरी कहानी नहीं, मौन ही मेरा वार्तालाप, मेरी मूकता ही मेरी ज़बान है।

य दस्तूरे ज़बाँबंदी है कैसा तेरी महफ़िल में ?
यहाँ तो बात करने को तरसती है ज़ुबाँ मेरी !

कुछ कहने को हम विकल हैं, मगर कानून से हमारा मुँह बन्द कर दिया गया है।

× × ×

टपक ए शमा ! आँसू बनके परवाने की आँखों से !
सरापा दर्द हूँ, हसरत भरी है दास्ताँ मेरी !

सरापा—सिर से पाँव तक, पूर्णत :।

× × ×

परीशाँ हूँ मैं मुश्ते खाक, लेकिन कुछ नहीं खुलता,
सिकंदर हूँ, कि आईना हूँ, या गर्दे-कदूरत हूँ !

मैं उड़ती हुई एक मुट्ठी धूल हूँ। किन्तु कौन जाने यह (अमरत्व की खोजी) सिकंदर बादशाह की मिट्टी हो :—यह प्रतिबिम्ब हो विश्व-जीवन का! अथवा कलुषता की गर्द हो केवल!

ये सब कुछ है मगर हस्ती मेरी मकसद है कुदरत का!
सरापा नूर हो जिसकी हकीकत, मैं व' जुल्मत हूँ!

कुछ भी हो, मेरा जीवन प्रकृति का उद्देश्य है, ज्योति जिसकी वास्तविकता है, मैं वह अंधकार हूँ।

× × ×

असर यह भी है इक मेरे जुनूने-फितना-सामाँका,
मेरा आईनए-दिल है कज़ा के राजदानों में!

एक असर यह भी है मेरे इस उपद्रवपूर्ण पागलपन का कि मेरे हृदय का दर्पण भी मृत्यु का रहस्य जाननेवालों में से है।

रुलाता है तेरा नज़्ज़ारा, ए हिन्दोस्ताँ, मुझको,
कि, इबरत-खेज़ है तेरा फसाना सब फसानों में!

'इबरत-खेज,' करुण शिक्षा-पूर्ण।

× × ×

फिदा करता रहा दिल को हसीनों की अदाओं पर
मगर देखी न इस आईने में अपनी अदा तूने!

'आईना' अर्थात् दिल।

तअस्सुब छोड़ नादाँ! दह्र के आईना-खाने मे
ये तस्वीरें हैं तेरी जिनको समझा है बुरा तूने!

ओ नादान, असहिष्णु न बन! इस दुनिया के शीशमहल में सबतो ही प्रतिबिंब हैं, जिन्हें तू बुरा बताता है।

बादको यह कवित्व-शक्ति 'शमा-ओ-शायर,' 'खिज़रे-राह,' 'तुलूए-इस्लाम,' ,साकी-नामा' आदि कविताओं में आध्यात्मिकता की दृष्टि से अधिक पुष्ट तथा गम्भीर और गहन हो गयी है। जिस महासागर के संगम के लिए उसकी

मानस-धारा विकल थी, मानो वह उसे प्राप्त हो गया है, जहाँ से (मुस्लिम-जगत् के द्वारा ही सही) एक आह्वान स्वर समस्त संसार के लिए उठता रहता है।

सुनिए—

आश्ना अपनी हकीकत से हो ए दहकाँ ! ज़रा,—
दाना तू, खेती भी तू, बाराँ भी तू, हासिल भी तू !

रे गवाँर : अपने अस्तित्व से अभिज्ञ हो, देख कि बीज, खेती, वर्षा और खेत की पैदावार—तू ही सब कुछ है !

आह ! किसकी जुस्तजू आवारा रखती है तुझे ?—
राह तू, रहरौ भी तू, रहबर भी तू, मंजिल भी तू !

तू किसकी खोज में भटक रहा है ? अरे, पथ और पथिक, पथ प्रदर्शक और लक्षित स्थान, सब कुछ तू ही तो है !

काँपता है दिल तेरा अन्देशए-तूफ़ाँ से क्या !
ना खुदा तू, बह्र तू, कश्ती भी तू, साहिल भी तू !

तूफ़ान का डर क्या जब कि तू ही नाविक और तू ही सागर और तू ही उस पार का तट है ?

देख आकर कूचए चाके-गरेबाँ में कभी !
क़ैस तू लैला भी तू सहरा भी तू महमिल भी तू !

ओ विक्षिप्त, तेरी धज्जियों के चीर-चीर में जो गलियाँ सी बन गयी हैं उनमें घूम-घूमकर देख कि तू ही मजनू, तू ही लैला, तू ही वन और बयाबान और तू ही वह पर्दा है जिसमें लैला छिपी हुई है।

वाय नादानी ! कि तू मोहताजे-साक़ी हो गया,
मैं भी तू, मीना भी तू, साक़ी भी तू, महफ़िल भी तू !

कितना अज्ञान कि तू स्वयं साकी का मोहताज हो गया जब कि मधु, मधुपात्र, साक़ी और महफ़िल सब तेरे ही अन्दर है ?

शोला बनकर फूँक दे ख़ाशाके गैरल्लाह को !
ख़ौफे बातिल क्या ? कि है गारत गरे-बातिल भी तू !

अनीश्वरता के तृण को आग की लपट बनकर फूँक दे ! क्या भय असत्य का ! आख़िर असत्य और मिथ्या को नाश करनेवाला भी तू ही है ।

—'शमा-ओ शायर' से

पुनः कहते हैं—

य' मौजे-नफ़स क्या है, तलवार है !
.खुदी क्या है, तलवार की धार है !

'मौजे-नफ़स', साँस की गति लहर, 'खुदी', अहम् ।

.खुदी—जल्वा-बदमस्त-ओ-ख़िलवत पसन्द !
समुन्दर है इक बूँद पानी में बन्द !

अहं ज्योति-दर्शन से विभोर एकांत का प्रेमी है, इस एक बूँद पानी में सागर की शक्ति छिपी हुई है ।

अँधेरे-उजाले में है ताबनाक !
मनो-तू से पैदा, मनो तू से पाक !

अँधेरे और उजाले में बराबर तेज पूर्ण, 'मैं' और 'तू' रागात्मिकता से उत्पन्न थी, किन्तु फिर राग-मुक्त भी है ।

अज़ल इसके पीछे, अबद सामने !
न हद इसके पीछे, न हद सामने !

इसका आदि अनादि है, और अंत अनंत ।

ज़माने के दरिया में बहती हुई !
सितम इनकी मौजों के सहती हुई !

यह अहं समय सागर में प्रवाहित और इनकी लहरों से प्रताड़ित है ।

तजस्सुस की राहें बदलती हुई
दमादम निगाहें बदलती हुई ।

सब ओर दृष्टि-सचालन करती हुई यह प्रत्येक पथ से खोज में लीन है।

सुबुक इसके हाथों में संगे-गराँ !
पहाड़ इसकी ज़र्बों से रेगे-रवाँ !

शैल-खंड का भार इसके हाथों में क्या है? इसकी चोटों से गिरि शृङ्ग भी रेणु-रेणु है !

सफर इसका अन्जाम् ओ-आगाज़ है
यही इसकी तकवीम का राज़ है !

यात्रा में ही इसका आदि और अन्त है। इसकी शक्ति का रहस्य यही है।

किरन चाँद में है, शरर सेग में
ये बेरग है डूबकर रग में !

यही चन्द्रमा में शीतल किरण है और पत्थर में आग की चिंगारी है। यह सब रगों में है किंतु इसका कोई रग नहीं।

ख़ुदी का नशेमन तेरे दिल में है
फ़लक जिस तरह आँख के तिल में है

आँख के तिल में जैसे आकाश, उसी प्रकार तेरे हृदय में इस अहंका नीड़-निवास है।

अस्तु, देश-प्रेम के लोकप्रिय तरानों का स्थान इकबाल की बाद की कविता में इस्लामी-धर्म से अभिभावित एक अधिक व्यापक प्रकार के आदर्शवाद ने ले लिया, जिसमें इस्लामी दुनिया का सांस्कृतिक और धार्मिक संगठन का भाव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है। वास्तव में स्वदेश-प्रेम से ऊपर उठकर इकबाल ने अपने धर्मानुयायियों को जिस आदर्श की ओर प्रेरित किया है उसे हम अनुदार कदापि नहीं कह सकते, यद्यपि कुछ पाठकों का इसके बारे में हमसे भिन्न मत है। क्योंकि इकबाल के 'मुस्लिम' की व्याख्या करने पर हम उसे संसार-समाज का एक आदर्श व्यक्ति पाते हैं।

यह 'मुस्लिम' कोरी फ़िलासफ़ी की अकर्मण्यता और 'फिरंगी तहज़ीब' के चित्ताकर्षक यथातथ्यवाद के समकक्ष अपनी एकेश्वरवादी आस्था अपना दृढ़ आत्म-विश्वास और सूफियों के से विश्व विजयी प्रेम की अभूतपूर्व शक्ति को

रखता है। इनके बलपर क्या वस्तु, क्या शक्ति उसके अधिकार में नहीं! वह मृत्युञ्जय है और पूर्ण अर्थ में स्वतन्त्र है। 'मर्दे मुसल्मान' की पंक्तियाँ हैं—

हर लह्ज़ा है मोमिन की नई शान नई आन,
गुफ्तार में, करदार में, अल्लाह की बुरहान!

धर्म-भीरु पुरुष प्रतिक्षण नवीन गौरव को प्राप्त होता है, अपनी वाणी और कर्म से वह स्वयं ईश्वर की सत्ता का प्रमाण है।

'कह्हाए'-ओ-'गफ्फारी'-ओ-' कुद्दूसी'-'ओ- जब्रूत'
यह चार अनासिर हों तो बनता है मुसल्मान!

ईश्वरीय रोष तथा ईश्वरीय क्षमा, पवित्रता तथा गुरु-तेजस्व, ये चार गुण-तत्त्व जब मिलते हैं तब मुसल्मान का आविर्भाव होता है।

हम सायए जब्रीले-अमीं बदए खाकी!
है इसका नशेमन न बुखारा न बदख्शान!

खाक से बने इस दीन-जन का वास तो ईश्वर के परम सेवक (फिरिश्ता) हज़रत जब्रील के समकक्ष है, पृथ्वी के बुखारा, बदख्शाँ आदि को उसका घर न समझो।

यह राज किसी को नहीं मालूम कि मोमिन—
कारी नजर आता है, हकीकत में है .कुरआन!

यह रहस्य किसी को ज्ञात नहीं कि मोमिन स्वयं .कुरानशरीफ है, यद्यपि प्रकट रूप से वह इस धर्म पुस्तक का पारायण करनेवाला ही जान पड़ता है।

कुदरत के मकासिद का अयार इसके इरादे
दुनिया में भी मीज़ान कयामत में भी मीज़ान!

उसके संकल्प प्रकृति के चरम उद्देश्यों का परिमाण है। जैसा कि संसार में, वैसा ही न्याय के अन्तिम दिवस भी, तुला के समान, वह सदैव पूरा—आदर्श रूप उतरता है।

जिसके जिगरे लाला में ठंडक हो, वे शबनम,
दरियाओं के दिल जिससे दहल जाएँ, वे तूफान!

लाला के छोटे से फूल के हृदय पर वह ओस की शीतलता के समान है, किन्तु वह ऐसा तूफान भी है जिससे दरियाओं के दिल दहल जायँ।

फ़ितरत का सरोदे-अज़ली इसके शबो-रोज़,
आहंग में यकता सिफते सूरए-रहमान !

उसके दिवा-निशि में प्रकृति का अनादि संगीत है, जिसका स्वर नाद 'सूरए-रहमान' (कुरान शरीफ का एक अध्याय) सा ही अद्वितीय और असामान्य है।

किन्तु वह संसार की विजय अपने ऐश्वर्य के लिए नहीं चाहता। उसका तो वैयक्तिक जीवन निःसंग दीनता पर—फ़कीरी पर—निर्धारित है, जो प्रतिक्षण सर्वशक्तिमान से उसे मिलाए रखती है। उसकी दिग्विजय का भौतिक रूप तो एक गौण रूप है, यद्यपि उसका यह रूप उपेक्षा के योग्य नहीं।

न तख्ता ताज में, न लश्करो सिपाह में है
जो बात मर्दे कलंदर की बारगाह में है !
'मर्दे क़लंदर की बारगाह', त्यागी-तपस्वी का डेरा।

कवि कहता है कि ताज, निशान, लश्कर ये तो फकीरों के चमत्कार हैं—

फ़ुक्र के हैं मुअजजात—ताजो सरीरो-सिपाह
.फ़ुक्र है मीरों का मीर, .फ़ुक्र है शाहों का शाह !
इल्मका मकसूद है पाकीए-अक्लो खिरद !
.फ़ुक्र का मकसूद है इफ्फ़ते कल्बो-निगाह !

.ज्ञान का ध्येय बुद्धि को निर्मल करना है, .फ़ु.क्र का दृष्टि और मनको पवित्र करना।

इल्म फ़कीहो-हकीम, फ़ुक्र, मसीहो-कलीम
इल्म है जोयाए-राह, फ़ुक्र है दानाए-राह।

'ज्ञान' तत्वान्वेषक दार्शनिक है, किन्तु 'फ़ुक्र' (फ़कीरी, तप, साधना) स्वयं मसीह और हज़रत मूसा की शक्ति से अभिभूत है। ज्ञानी केवल पथ खोजता रहता है, किन्तु फ़कीर उसको जानता और समझता है।•

फ़क़्र मुकामे-नज़र, इल्म मुकामे ख़बर
फ़क़्र में मस्ती सवाब, इल्म में मस्ती गुनाह !

तप साक्षात्कार है, ज्ञान केवल श्रुति है। मस्ती फकीर के लिए आध्यात्मिक सुख है, किन्तु ज्ञानी के लिए विडम्बना है, पाप है।

दिल अगर इस खाक में ज़िंदा-ओ-बेदार हो
तेरी निगह तोड़ दे आइनए-मह्रो माह !

इस विभूति के प्रसाद से यदि वही हृदय (मन) जाग उठे तो तेरी एक दृष्टि सूर्य और चन्द्र का आईना तोड़ दे सकती है।

संसार की जो भी जाति अथवा राष्ट्र इस महान् (मुस्लिम) आदर्श का पालन करने में समर्थ होगा वही बड़े से बड़े ऐहिक और पारलौकिक सम्मान-पद और शक्ति का अधिकारी होगा।

अगर है इश्क़, तो, है कुफ्र भी मुसलमानी,
न हो, तो मर्दे-मुसलमाँ भी काफ़िरो-ज़िंदीक !'

'ज़िंदीक' (ज़िंदाअवस्ता को मानने वाला) अर्थात् विधर्मी।

पश्चिमी सभ्यता के बारे में भी कहते हैं—

सरूरो-सोज़ में नापायदार है, वर्ना
मये-फिरंग का तह दुरअ भी नहीं नासाफ़ !

यानी इसकी ज्वाला, इसका नशा ठहरनेवाला नहीं, नहीं तो इस 'फ़िरंगी' हाला की तलछत भी ना-साफ नहीं, अर्थात् साफ़ है।

इकबाल और वतन

इस्लाम का सच्चा पथ अलौकिक साधना का पथ है। सद्विचार, सद्भक्ति और एकेश्वरी आस्था से ही प्राचीन महापुरुषों की-सी क्षमता फिर मनुष्यों में पैदा हो सकती है। आधुनिक राष्ट्रों का अस्थिर बल-प्रदर्शन तथा पूर्व-देशों में नाना देवों की पूजा-आराधना आत्म निहित परब्रह्म की ज्योति के सम्मुख तृण के समान है।

पश्चिमी आदर्शों से अनुप्राणित देश-भक्ति भी जीवन की सच्ची महान्

प्रेरणाओं को एक संकुचित सीमा में ही परतन्त्र कर देती है। यह भी एक प्रकार की मूर्ति-पूजा है। इस पूजा के मोह के पीछे अपने आन्तरिक स्वतन्त्रता के जीवन-स्रोत को तथा उसके परम उद्‌गम से अपने सम्बन्ध को हम विस्मृत कर देते और खो देते हैं। हम यहाँ 'वतनीयत' शीर्षक कविता ('बाँगे दरा' पृष्ठ १७३-४) का सारभाव देते हैं—

> आधुनिक सभ्यता के मूर्ति-भवन में सबसे विशालकाय मूर्ति 'वतन' की है। 'जो पैरहन (वस्त्र) इसका है व' मज़हब का कफ़न है।' अस्तु, ए इस्लाम को ही अपना देश माननेवाले, 'ए मुस्तफ़वी ! ख़ाक में इस बुत को मिला दे !' सीमा-बन्धन का परिणाम तबाही है, तू स्थान की सीमा से स्वतन्त्र हो जा ! 'वतन' का राजनीति की भाषा में कुछ और अर्थ है और धर्म की भाषा में (हमारे नबी का इरशाद) कुछ और है। इसी 'वतन' के कारण संसार की जातियों में प्रतिद्वंद्विता है। यही विदेश-विजय को व्यापार का ध्येय बना देता है। राजनीति सत्य से ख़ाली हो जाती है और कमज़ोर का घर ग़ारत हो जाता है। ईश्वर की सृष्टि जातियों में बँट जाती है तथा इस्लाम के भ्रातृत्व का मूलोच्छेद हो जाता है।

अपनी स्वतन्त्र शक्ति से यदि मनुष्य आध्यात्मिक गौरव को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो तो संसार की कोई शक्ति उसे कभी परतन्त्र नहीं रख सकती। अनेक स्थलों पर इक़बाल ने मनुष्य की पावन श्रेष्ठता का गुण-गान किया है। सर्वनियता के सम्मुख अनेक बार उसे सृष्टि की अन्य विभूतियों तथा फ़रिश्तों तक से अधिक पवित्र तथा ईश्वर की शक्ति व अनुकम्पा का एक मात्र अधिकारी और आधार बताया है। मनुष्य अपनी शक्तियों को पहचाने, उनके द्वारा अन्तहीन उत्थान को प्राप्त होता हुआ अधिकाधिक ज्योतिर्मय होता जाय—इक़बाल की कविता इसी लक्ष्य की ओर संसार को प्रेरित करती है।

> इस ज़र्रे को रहती है—वसअत की हवस हरदम
> यह ज़र्रा नहीं शायद सिमटा हुआ सहरा है !

—इस कण को प्रतिपल विकास की अभिलाषा है। सम्भवतः यह कण नहीं कोई सिमटा हुआ मरु-प्रदेश है !

चाहे तो बदल डाले हैयत चमनिस्तॉ की
यह हस्तीए दाना है, बीना है, तवाना है !

—इसका प्रबुद्ध चक्षुष्मान शक्तिमय जीवन चाहे तो ससार का अस्तित्व ही बदल दे।

—'इंसान' (बाँगे-दरा)

उरूजे आदमे खाकी से अंजुम सहमे जाते हैं—
कि यह टूटा हुआ तारा महे कामिल न बन जाए !

इस मिट्टी के पुतले का उत्थान देखकर नक्षत्र सहमे जाते हैं कि कहीं स्वर्ग-लोक से गिरा हुआ यह तारा बढते बढते व्योम का पूर्ण चन्द्र न बन जाय !

यहाँ दो अतीव सुन्दर गज़लें हम देते हैं। इनका अर्थ-गौरव जिस पूर्णता के साथ मनुष्यात्मा की महत्ता का द्योतक है, अनुवाद में उसकी झलक-मात्र भी नहीं आ सकती है।

(१)

इस ग़ज़ल में विश्व की गतिविधि पर मनुष्य की गर्वोक्ति-पूर्ण टिप्पणी है ; प्रश्नों के रूप में ईश्वर के प्रति एक हल्का सा उलाहना है।

अगर कज रौ हैं अंजुम, आसमाँ तेरा है या मेरा ?
मुझे फ़िक्रे-जहाँ क्यों हो ! जहाँ तेरा है या मेरा !

अर्थात् मुझे संसार की चिन्ता क्यों हो ? नक्षत्रों की गति उलटी है तो हुआ करे ! आखिर यह विश्व, यह व्योम तेरा है या मेरा ? (तू ही तो इनका नियंता है, मैं तो नहीं !)

अगर हंगामाहाए-शौक से है ला-मकाँ खाली
खता किसकी है या रब ! ला-मकाँ तेरा है या मेरा !

अगर यह असीम महत्वाकांक्षाओं के सघर्ष से शून्य है तो किसका अपराध है, प्रभु ? तुम्हारा ही तो है यह असीम ! न कि मेरा !

उसे सुबहे-अज़ल इन्कार की जुरअत हुई क्योंकर
मुझे मालूम क्या ! वह राज़दाँ तेरा है या मेरा !

मैं क्या जानूँ, उसे अनादि के प्रभात-काल में अवज्ञा का साहस कैसे हुआ ? तेरे ही तो अतरग रहस्यो का ज्ञाता है वह ! अर्थात् मेरी उत्पत्ति पर इब्लीस (शैतान) क्यों नत-मस्तक नहीं हुआ, इसका कारण तू ही जानता है !

मोहम्मद भी तेरा, जब्रील भी, कुरआन भी तेरा !
मगर यह हर्फ़ शीरीं तर्जुमा तेरा है या मेरा ?

यह सब तेरे हैं—पैगम्बर भी, (फरिश्तों में अन्यतम) जब्रील भी, और कुरान भी, मगर यह (मानव की) सुमधुर वाणी किसकी भाष्यकार है ? तेरी या मेरी ?

इसी कौकब की तावानी से है तेरा जहाँ रौशन,—
ज़वाले-आदमे ख़ाकी ज़ियाँ तेरा है या मेरा ?

इसी नक्षत्र की ज्योति से तेरे ससार में उजाला है, अब इस धूलि-कण-विनिर्मित मानव के ह्रास में बता हानि किसकी है ? तेरी या मेरी ?

(२)

यह दूसरी ग़ज़ल तो मनुष्यात्मा की महत्ता की स्तुति ही है ।

मेरी नवाए-शौक से-शोर हरीमे-ज़ात में !
ग़लग़ला हाए-अल् अमाँ बुतकदए-सिफ़ात में !

मेरी आकाक्षाओं के राग-स्वर की—परब्रह्म के गृह में धूम है । उसके नाद से गुणों के मूर्ति-मन्दिरो में 'त्राहिमाम् !' मच रही है ।

हरो फ़रिश्ता हैं असीर मेरे तख़य्युलात में—
मेरी निगाह से ख़लल तेरी तजल्लियात में ।

अप्सरायें और स्वर्ग-दूत मेरी कल्पनाओं के बन्दी हैं । मेरे दृष्टिपात से तेरी ज्योति के पारावार में खलल पैदा हो जाता है ।

गरचे है मेरी जुस्तजू दैरो हरम की नक़्शबन्द
मेरी फ़ुग़ाँ से रस्त.खेज़ काबा-ओ-सोमनात में !

यद्यपि मेरी खोज की भावना ही मन्दिर और मस्जिद के चित्र निर्माण

करनेवाली है, तथापि मेरा कातर क्रदन काबा और सोमनाथ दोनों के लिए कयामत है !

> गाह मेरी निगाहे-तेज़ चीर गयी दिले-वजूद
> गाह उलझ के रह गयी मेरे तवह्हुमात में !

कभी तो मेरी तीक्ष्ण दृष्टि स्थायित्व के मर्म तक को भेद जाती है, और कभी ऐसा होता है कि वह अपनी शकाओं में ही उलझ कर रह जाती है।

> तूने ये क्या गज़ब किया ! मुझको भी फाश कर दिया
> मैं ही तो एक राज था सीनए-कायनात में !

(ए कवि !) सृष्टि के उर में मैं ही तो एक रहस्य था। उसे खोलकर तूने यह क्या उत्पात कर दिया ?

इक़बाल की काव्य-कला

इकबाल का सदेश प्रेम-साधना द्वारा आत्म-विश्वास और आत्म ज्ञान का सदेश है। यह आत्म-ज्ञान 'एकोब्रह्म द्वितीयो नास्ति' ('ला-इलाह-इल्लिल्लाह') पर निर्धारित है, अर्थात् ईश्वर एक है और कोई दूसरा उसका सानी नहीं, इस मन्त्र द्वारा ससार में नव जाग्रति पैदा करने की ओर इस महाकवि ने अपने काव्य की सभी शक्तियों को केन्द्रित कर दिया है। इक़बालने प्रकृति-चित्रण के सर्वोच्च उदाहरण उर्दू कविता को प्रदान किये हैं;—मनुष्य के साधारण हर्ष-विषाद तथा रागानुराग का वर्णन,—स्वय अपने सुख दुःख की लिरिक अभिव्यक्ति, इन सबको इकबाल ने अलकार रूप से केवल अपने आध्यात्मिक विश्वासों के प्रतिपादन तथा मुस्लिम सस्कृति को अपनी वाणी द्वारा परिष्कृत तथा समुत्थित करने के कार्य में लगा दिया है। फलतः इकबाल के पद्य नाना अर्थ-सकेतों से पूर्ण हैं, अनेक संचारी भावों से पुष्ट हैं; श्रेष्ठ तथा अत्यन्त सजीव कल्पना शक्ति से अनुप्राणित हैं, चमत्कार-पूर्ण शब्द विन्यास से सुसस्कृत और अलकृत हैं, ओजस्विनी भाषा के प्रवाह से गभीर हैं। भावों में एक पैग़म्बराना शान, सूफियों की-सी एक मस्ती है, जिसके कारण छन्द और गति में लोच और स्वर में एक हलकी-सी झकार और कम्पन पैदा हो गयी है। नाद की गर्मी

में एक स्थिर, दृढ यौवन की-सी गूँज रही है, जो कवि की अन्तिम काल की कविताओं में अभिमन्त्रित सी हो गयी जान पड़ती है। नाद लोच और कम्पन का अभी ज़िक्र किया गया है। उसका आभास पिछले उदाहरणों में मिल चुका होगा। फिर भी यहाँ उनकी 'मैं और तू' शीर्षक प्रसिद्ध कविता में इस सौन्दर्य का हम विशेष रसास्वादन कर सकते हैं।

'मैं और तू'

न सलीका मुझमें कलीम का, न करीना तुझमें खलील का ,
मैं हलाके-जादुए-सामरी, तू कतीले-शेवए-आज़री !

न तो मुझमें हज़रत मूसा की-सी प्रतिभा है (जो तुझे, ऐ मुस्लिम ! धर्म-संकट से निकाल सकूँ) और न तुझमें हज़रत इब्राहीम की एकेश्वर-वादी आस्था के से ढंग हैं। अवस्था यह है कि इधर मैं झूठे चमत्कार के जादू पर मिटा जाता हूँ,उधर तू अपनी मूर्ति-पूजा के स्वभाव पर बलि है।

मैं नवाए-सोख्ता दर-गुलू, तू परीदा रंग, रमीदा बू ,
मैं हिकायते ग़मे-आरज़ू , तू हदीसे-मातमें-दिलबरी !

मैं कंठका जला-बुझा स्वर हूँ, तू उड़ा हुआ सा रंग, और विलीन हुई-सी सुगन्ध ; मैं अभिलाषाओं की करुणा का उपदेश हूँ और तू प्रेमात्म-समर्पण के अंतपर एक शोक-अध्याय है !

मेरा ऐश ग़म, मेरा शहद सम, मेरी बूद हमनफसे-अदम ;
तेरा दिल हरम, गिरवे-अजम, तेरा दीं खरीदए काफिरी !

दुख मेरा ऐश और गरल मेरा मधुपान है, मेरा अस्तित्व नास्त्यावस्था के निकट है। तेरा हृदय जो पवित्र काबा है, मूर्ति स्थानों में गिरवी पड़ा है। तेरा धर्म अधर्म से मोल लिया हुआ है।

दमें-ज़िंदगी रमे-ज़िंदगी, ग़मे ज़िंदगी समे-ज़िंदगी ;
ग़मे रमनकर, समे-ग़म न खा, कि यही है शाने कलंदरी !

जीवन की साँस ही जीवन की गति है, जीवन का शोक ही जीवन का विष है। ओ, रे ! इस गति का शोक न कर , क्योंकि साधुओं की यही शान है !

तेरी खाक में है अगर असर, तो खयाले फ़ुक़्रो-गिना न कर,
कि जहाँ में नाने शईर पर है मदारे-क़ुव्वते-हैदरी !

तेरी मिट्टी में अगर चिंगारी है तो अमीरी और फकीरी का खयाल न कर, क्योंकि संसार में हैदरे-कर्रार (इस्लाम धर्म के एक संत) की सी शक्ति का आधार जौ की रोटी ही है ।

कोई ऐसी तर्ज़े-तवाफ तू मुझे ऐ चिराग़े-हरम बता,
कि तेरे पतंग को फिर अता हो वही सरिश्ते-समन्दरी !

ए काबा के पवित्र दीपक ! मुझे परिक्रमा की कोई ऐसी विधि बता जो तेरे पतंग को फिर वही अग्नि- वासी समन्दर का-सा स्वभाव प्राप्त हो ।

गिलए-वफ़ाए-बफानुमा कि हरम को अहले-हरम से है—
किसी बुतकदे में बयाँ करूँ तो कहे सनम भी हरी हरी !

भक्ति के रूप में जो विश्वासघात काबावालों ने काबा के साथ किया है उसकी शिकायत की चर्चा कहीं यदि मैं किसी मन्दिर में करूँ तो मूर्तियाँ भी 'हरि ! हरि !' कह उठें ।

× × ×

करम, ए शहे अरबो-अजम, कि खड़े हैं मुन्तज़िरे करम—
वो गदा कि तूने अता किया है जिन्हें दिमाग़े-सिकंदरी !

ए अरब और अजम (अरब के अतिरिक्त और भी देशों) के बादशाह (हज़रते-पैग़म्बर !) तेरी अनुकम्पा की प्रतीक्षा में वे भिखारी खड़े हुए हैं जिन्हें तूने सिकन्दर का-सा मस्तिष्क प्रदान किया है ।

इकबाल की कविता में वह शक्ति है जो मुर्दा दिलों में जान डाल देती है, बुझे हुए सर्द हृदय को गर्माकर मन को कर्म की प्रबल प्रेरणा से अस्थिर कर देती है। जीवन को अपनी सत्ता का आभास देकर आत्म-विश्वास के विजयोल्लास से भर देती है । यह अतिशयोक्ति नहीं । इन पद्यों को पढकर भी क्या कोई सन्देह कर सकता है—

गुलामी में न काम आती हैं शमशीरें, न तदबीरें।
जो हो ज़ौके यकीं पैदा तो कट जाती हैं ज़ंजीरें।

ज़ौके-यकीं—दृढ विश्वास की आकांक्षा।

कोई अन्दाज़ा कर सकता है उसके ज़ोरे-बाज़ू का?—
निगाहे-मर्दे मोमिन से बदल जाती हैं तकदीरें।

निगाहे-मर्दे-मोमिन—स्वधर्मारूढ पुरुष की दृष्टि।

विलायत, पादशाही, इल्मे-अशिया की जहाँगीरी—
य' सब क्या हैं? फ़कत इक नु.क्तए-ईमाँ की त.फ्सीरें!

उपनिवेश, साम्राज्य विज्ञान का सर्वाराधिपत्य—यह सब केवल एक धर्म-तत्व के ही अर्थ-विस्तार हैं।

बराहीमी नज़र पैदा मगर मुश्किल से होती है;
हवस छिप छिपके सीनों में बना लेती है तस्वीरें!

संसार में एक ईश्वर-शक्ति को ही देखने वाली हज़रत इब्राहीम की सी दृष्टि का पैदा होना सहज नहीं; लोभी आकांक्षाएँ हृदय में गुप्त रीति से विविध मूर्तियों का निर्माण कर लेती हैं।

तमीज़े बंदओ-आका फ़िसादे आदमीय्यत है!
हज़र, ए चीरा-दस्तों! स ख्त हैं फितरत की ताज़ीरें!

सेवक और स्वामी का भेद-भाव मनुष्यमात्र का दुर्गुण है। ए धन-मन की पगड़ी से सजनेवालो, बचो!—क्योंकि (चाहे मनुष्य के कानून तुम्हारी रक्षा कर भी सकें) प्रकृति के नियम अति कठोर हैं।

हकीकत एक है हर शै की, खाकी हो कि नूरी हो!
लहू खुरशीद का टपके अगर ज़र्रे का दिल चीरें!

प्रत्येक वस्तु चाहे वह ज्योति से निर्मित हो अथवा धूल-कण से, एक ही सत्य से पूर्ण है। किसी कण का यदि हृदय चीरें, तो उसमें से सूर्य का रक्त टपकेगा।

यक़ीं मोहकम, अहल पैहम, मोहब्बत फ़ातहेआलम
घहादे-ज़िन्दगानी में है ये मर्दों की शमशीरें।

जीवन के संघर्षों में मर्दों की खड्ग और तलवार क्या है—दृढ़ विश्वास, अनवरत कर्म और विश्व-विजयी प्रेम-भाव !

आधुनिक युग के कितने ही विषयों का समावेश इकबाल की कविता में हुआ है, जिसका कुछ अनुमान इन शीर्षकों से हो सकेगा—'वतनीय्यत', 'तालीम और उसके नतायज' (शिक्षा और उसके फल) 'तहज़ीबे-हाज़िर' (आधुनिक सभ्यता), 'मोटर' 'असीरी' (परतन्त्रता), खिज्रे-राह,' में—'सल्तनत' 'सरमायो-मेहनत' (पूँजी और मेहनत) आदि, 'लेनिन' दीनो-सयासत' (धर्म और राजनीति), 'मुसोलिनी', सिनेमा,' 'फिरंग-ज़दः' (अंग्रेज़ी, अर्थात् पाश्चात्य सभ्यता से ग्रस्त) इत्यादि, इत्यादि। जीवन के प्रत्येक महत्वपूर्ण विषय पर गम्भीर गहन विचारों का निष्कर्ष उनकी कविता में हमें मिलता है, जो श्रेष्ठ स्पष्ट कवित्व-शैली में प्रभावपूर्ण रीति से व्यक्त किये गये हैं।

प्रकृति-चित्रण

इकबाल का प्रकृति-चित्रण तो एक स्वतन्त्र लेख का विषय है। इसमें जहाँ एक ओर आकार, रूप और स्वभाव के गहरे निरीक्षण का पता चलता है, वहाँ यह भी ज्ञात होता है कि उनसे उत्पन्न 'मूड' के ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब उन्होंने कितनी सफलता-पूर्वक उतारे हैं। 'एक आरज़ू' 'कनारे रावी,' एकशाम—दरियाए-नेकर के किनारे पर' मशहूर उदाहरण हैं।

ख़ामोश है चाँदनी क़मर की
शाखें है खमोश हर शजर की

'क़मर,' चाँद, 'शजर,' पेड़।

× × ×

फ़ितरत बेहोश हो गयी है
आगोश में शब के सो गयी है

'फ़ितरत,' प्रकृति, 'आगोश,' गोद, 'शब,' रात

कुछ ऐसा सकूत का फसूँ है
नेकर का खराम भी सकूँ है

'सकून,' शान्ति, 'फसूँ', जादू, 'ख़राम,' मन्द गति, 'सकूँ' शान्त।

तारों का खमोश कारवाँ है
यह काफ़िला बेदरा रवाँ है

'बेदरा,' बिना घटी की आवाज से।

खामोश है कोहो-दश्तो-दरिया
कुदरत है मराकबे में गोया!

'कोह' पहाड़, 'दश्त,' जगल बयाबान, 'मराकबा,' ध्यान की स्थिति या आसन।

ऐ दिल तू भी खामोश हो जा
आगोश में गम को लेके सो जा

—'दरियाए-नेकर के किनारे' से

उनकी इन दो पक्तियों में सन्ध्यावसान का पूरा चित्र है—

सूरज ने जाते-जाते शामे-सियः कबा को
तश्ते-उफक से लेकर लाले के फूल मारे!

—'बज़्म अजुम' से

'शामे-सियः-कबा,' असित वस्त्राभूषित सन्ध्या; 'तश्ते-उफक' अरुण द्वाभा की (क्षितिज की सीमा से गोल) तश्तरी, 'लाला,' लाल रंग का एक वन कुसुम।

अर्थात्—बिदा के समय सूर्यने सन्ध्याबाला को क्षितिज की तश्तरी से लेकर कुछ लाले के फूल मारे। प्रकृति में प्रेम परिहास-पूर्ण रोमास अर्थात् जीवन-स्थित प्रेरणाओं की गति का आभास—और समय के सतत नव-अनुरंजित प्रवाह की एक छाया-सी—दो पक्तियों में जागृत कर दी गयी है। इसमें विदाभाव का उपहास है, करुणा हास-सा, ...कवि! यह प्रकृति के किस आन्तरिक जीवन की झलक है?

पुरानी इमारतों के साथ प्राकृतिक दृश्यों का एकीकरण करके ऐतिहासिक स्मृतियों से कल्पना को जगाते हुए कवि अपने भाव-संकेतों द्वारा काल-परिवर्तन के पर्दों में से जीवन के अमर तत्त्वों को प्रकाशित करता है। यथा, 'गोरिस्ताने-शाही', 'सिकलैया (जजीरए-सिसली)', 'मस्जिदे-करतबा' इत्यादि में।

× × ×

शायद इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि कहीं-कहीं (विशेषतः अन्तिम प्रौढतम रचना-काल के कुछ फुटकर पद्यों में) इस दार्शनिक कवि के कर्तव्योपदेश और आह्वान में उपदेश की मात्रा ने भाव के काव्यांश को किंचित गौण-सा कर दिया है, कि हमें बरबस उक्तियों और नीति के दोहों की याद हो आती है। वास्तव में इकबाल की गम्भीर विचार धारा में हास्य रस के सहकारी भाव का एकदम अभाव है। इसका पुट इकबाल के वास्तविक गुरु गालिब की रचनाओं में हमें अक्सर मिलता है। इस रसाभाव के कारण, यद्यपि यहाँ यह ध्यान में आता है कि यह अभाव इकबाल के यहाँ इतना कभी नहीं खटकता जितना वाधारण तथा मिल्टन की रचनाओं में—इस रसाभाव के कारण मनुष्य का साधारण गार्हस्थ्य जीवन उनकी काव्य दृष्टि को आकृष्ट नहीं करता। उनकी अहमन्य आशावादिता हमें ब्राउनिंग की याद दिलाती है। अन्तर यह है कि भारतीय कवि को मनोवैज्ञानिक समस्याओं में दिलचस्पी नहीं है, उसका क्षेत्र एकदम दार्शनिक है। वह धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं की व्याख्या अक्सर करता है, लेकिन एक दार्शनिक की दृष्टि से। इकबाल का धार्मिक आदर्शवाद दाँते की-सी कल्पना के पंख फैलाकर, ग्येटे के व्यावहारिक ज्ञान-वैचित्र्य के क्षेत्र से भी ऊपर उठकर भारतीय दर्शन-शास्त्र मात्र को कोरी कल्पनाजनक संघर्षहीन आदर्शवाद से पूर्ण कहकर, उसकी कवित्वपूर्ण आलोचना करता हुआ 'ला-इलाह' के परम-पद की प्रदक्षिणा में लीन हो जाता है तथा 'मुस्लिम' के व्यक्तित्व-द्वारा श्रेष्ठ कविता के सब प्रेमियों को अपने शक्ति-प्रद काव्य रसानन्द में किसी भी समय तन्मय कर देने की पूर्ण क्षमता रखता है। जैसे-जैसे समय बीतता जायगा, संसार को इस महाकवि पर और अधिक वास्तविक गर्व होगा, इसमें सन्देह नहीं है।

उर्दू कवयित्रियाँ

पिछले १५ २० वर्षों में जिस तरह मुक्त रूप से महिलाओं ने देश की राजनीति और साहित्य में हिस्सा लेना शुरू किया है, उसका महत्व आज के इतिहास में यदि कम नहीं माना जायगा तो शायद उसका और कितना अधिक स्पष्ट प्रभाव सब ओर रहेगा, इसकी कल्पना सहज ही नहीं की जा सकती। अस्तु, हम यहाँ उर्दू साहित्य के उस पक्ष का कुछ जिक्र करेंगे जिसका शायद देशकी संस्कृति से एक गम्भीर सम्बन्ध है, यद्यपि पूरी तरह इसको समझने के लिये अभी सामग्री बहुत कम उपलब्ध है।

इसमें सन्देह नहीं कि उर्दू कवयित्रियों का संसार इस्लामी संसार है—मुख्यतः उत्तरी भारत का इस्लामी संसार। इसमें दो-एक हिन्दू नाम मानो समाज में किसी की भूल से आ जाते है।

उर्दू शायरी में— इतिहासज्ञ जानते हैं—कि हम एकदम अपने निजी सुख दुख की अभिव्यक्ति नहीं पाते, बल्कि जो वस्तु इस सुख-दुख के निजीपन को भुलाकर एक सामाजिक आदर्श पर हमारी भावनाओं को उठा ले जाती है, परोक्ष में उसकी अभिव्यक्ति, उसीका चित्रण हमें मिलता है, और वह वस्तु है "महफिल"। अवश्य ही वह एक रसिक समाज की महफिल होगी, और इसके चारों तरफ जो एक बाग़ का-सा नक्शा है, वही इस दुनिया का चमन ज़ार है,सामन्ती-नागरिक, जिसकी सीमाएं नैराश्य की मरुभूमि से जाकर मिल जाती हैं। आप देखेंगे कि यह वातावरण तुर्की ईरानी दरबारों और इस्लामी-सभा संगतों की परम्परा में इतना गहरा हुआ कि कला भावों की पृष्ठभूमि देश-काल से ऊपर तो उठ गयी,—पर साथ ही जनसाधारण के जीवन से भी दूर चली गयी।

संकेत-संसार यद्यपि मुख्य हो गया, पर उसमें क्या मानव-हृदय का स्वर भी मद्धिम हुआ? असल में लाक्षणिक अभिव्यक्ति की यह रंगीन शैली इतनी

लोकप्रिय हुई कि शमा परवाना और गुलो-बुलबुल के पर्दे में ही अपने भावों को खोलना कवियों को स्वाभाविक जान पड़ा।

इन प्रतीकों में कवि को एक सहज-सम्मान्य आधार ही नहीं, बल्कि एक आभास-सा भी मिला उस वैचित्र्य-लोक का, जहाँ कल्पना के प्रकाश में सौंदर्य और शिव की झलक हमें कभी-कभी मिल जाती है।

ये प्रतीक कहीं बिलकुल भावना-विहीन न हो जायँ, इसलिये 'हाली' ने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में आकर, सीधी, स्वाभाविक अभिव्यक्ति पर ज़ोर दिया। पर वह भी इसका अतिक्रम न रोक सके, कारण कि ये प्रतीक उर्दू काव्य में भावों का शब्दकोष हो गये हैं। और इनसे उर्दू काव्य को जो रूप मिला है, उसे उस्तादी और शागिर्दी की परम्परा ने और भी सुदृढ़ और मूर्त कर दिया है।

काव्य शृङ्खलाओं की ऐसी रूढि अपना कर भाषा के ऐसे संस्कारों में पल कर भारत की मुसलमान महिलाओं ने अपने जीवन से कौन-सा, कैसा राग सीखा? अव्वल तो—साहित्य-ज्ञान अथवा शिक्षा का यह सरस सुयोग क्या सबके जीवन में आ भी पाया?

इसके उत्तर के लिये शहरी गृहस्थी से बाहर हम नहीं जा सकते। और यहाँ शिक्षा की ऐसी कोई सुविधा स्त्रियों के लिये नहीं थी। सभ्य महिलाओं का तो शेरो-शायरी में दिलचस्पी लेना ही पुरुष-समाज को मान्य नहीं था; और किसीकी प्रतिभा इसके बावजूद अगर चमकी भी तो वह पर्दे की घोर प्रथा के कारण सहज ही प्रकाश में न आ पाती थी। कविता के लिये अवकाश और अवसर वास्तव में किसी को था तो वह हरम और बेगमात को, कि जिनकी सेवा में राज्य और रियासत के आश्रित सभी श्रेष्ठ कवि परामर्श के लिये उपस्थित रहते थे। और जगह, भले घरानों में अगर कोई कवि हो गयी तो यह निश्चय समझिए कि उसका कोई नज़दीकी रिश्तेदार शायर ज़रूर होगा।

इसके अलावा और जिस वर्ग के लिये काव्य-रचना, विशेषकर ग़ज़ल कहना, एक स्वभाविक और सुगम बात रही है (और आवश्यक भी) वह है सुसंस्कृत तवायफों का भावुक वर्ग। अक्सर अच्छे-अच्छे शायर जाकर अपनी

गज़लें इनसे गवाते थे, इसके अतिरिक्त, संगीत और नृत्य-कला के साथ-साथ रसिक दरबारों की सोहबत उन्हें योहीं कवि बना देती थी। अस्तु, इस रूप के बाज़ार में, जहाँ यौवन की रंगरलियों में हृदय की दौलत लुटती हो, बहुतों का सुन्दर शृंगारी कवि न हो जाना ही आश्चर्य की बात होती।

यही नहीं, इनके जीवन की आधारहीनता, जीवन में प्रेम की करुण विडम्बना दारुण कृत्रिमता के पीछे सहानुभूति की कुचली हुई आकांक्षाएँ, और अन्त में सुख स्वप्नों की नश्वरता का आभास, कहीं-कहीं इनके भावों को जिस प्रकार मार्मिकता से पूर्ण कर देता है, वह उन्हीं के हृदय की नहीं, मानवता की वस्तु हो जाती है। लेकिन कवि के लिये जो स्वतन्त्रता अपेक्षित है, वह जिस यात्रा में इन्हें प्राप्त होती है, उससे बहुधा इनके भावों में विशृंखलता बल्कि केन्द्रहीनता भी आ गयी है।

गृहस्थ जीवन में मुस्लिम स्त्रियों का व्यक्तित्व यद्यपि स्वतन्त्र नहीं रहा, पर एक और प्रकार का अपनापन उनमें था, जो विवाहिता हिन्दू स्त्रियों के व्यक्तित्व' से (जो कि यथार्थ में केवल उनके समान मिला जुला सामाजिक रूप है) एकदम भिन्न है, क्योंकि उनका परम आत्म-समर्पण पति के चरणों में नहीं, बल्कि खुदा के सिजदे में है। पुरुष की अनुगामिनी होकर भी वे अपना स्वत्व उसकी सत्ता में लीन कर देने को बाध्य नहीं, उनके जीवन में जो तलाक का सम्भाव्य है, वह मानो मुक्ति की राह उनके लिये पृथक कर देता है।

मैं समझता हूँ कि हिन्दू-स्त्री के जीवन काव्य की मुखरता उसके मौन प्रेम में ही लय हो जाती है, अपने आराध्य की ध्यान अर्चना, अपनी गृहस्थी का मंगल सुख, यही उसके लिये समस्त काव्य की आन्तरिक पूर्णता है। विनष्ट अथवा अप्राप्य सुख का ध्यान ही विह्वल होकर कविता में लय बद्ध हो उठता है। आनंद और शान्ति और मोक्ष के लिये उन्मन मनुष्य की शक्तियाँ कार्यसंलग्न होकर जो एक गति प्राप्त करती हैं, उसका व्यक्त राग ही तो वास्तविक और श्रेष्ठ कविता है। हिन्दू पुरुष के जीवन में नारी का योग और सहकार्य एक सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति ही नहीं (जैसा कि इस्लाम में है) बल्कि धर्म का एक विधान माना गया है। दोनों मिलकर जिस प्रकार ऐहिक जीवन की साधना में एक इकाई की शक्ति बनते हैं, उस शक्ति की प्राप्ति और रक्षा

दोनों के बिल्कुल स्वतन्त्ररूप से कला के क्षेत्र में आने पर, केवल तभी सम्भव रही है जब कि उनके जीवन में सन्तों की-सी भक्ति-वृत्ति प्रधान हो गयी, जब कि स्त्री और पुरुष का सामान्य भेद उनके लिये अर्थ हीन-सा होगया। ऐसा न होने पर, कविता में बरबस विषाद, शिथिल भावुकता, नैराश्य और अमंगल—हम चाहे जैसी दार्शनिकता से इसको रंग दें—आ जाता है, स्त्री और पुरुष दोनों की आत्माभिव्यक्तियों में।

अस्तु, हिन्दी और उर्दू के कला-भाव-जगत में यह धर्म-जनित सांस्कृतिक आधारों का जो अन्तर है वही कारण है इस बात का, कि सामान्य गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए भी मुसलमान स्त्रियों के लिये आत्माभिव्यक्ति अथवा व्यक्तित्व प्रकाशन जिस प्रकार सहज और स्वाभाविक रहा है—कला या किसी भी क्षेत्र में—उस प्रकार हिन्दू स्त्रियों के लिये वह सम्भव भी नहीं हो सकता। सामाजिक बन्धन और बेड़ियाँ दोनों के लिये समान रूप से भारी रही हैं। फिर भी मनुष्य का जो निजत्व कला को अनुप्राणित करता है, वह उन बन्धनों के बावजूद मुसलमान कवयित्रियों में इसको शुरू से एक स्वाभाविक रूप में मिलता है। हिन्दी में आधुनिक युग को छोड़कर अगर हम देखे तो हमें कुछ सन्त और विरल कवयित्रियों का ही एक सिलसिला नज़र आएगा, जिनके व्यक्तित्व में लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता का भाव है। मीरा में अलौकिक प्रेम का दर्शन हमें निःसन्देह जिस विह्वल तन्मयता के साथ मिलता है, उसका मुक्त माधुर्य, उसकी सरल गहनता वास्तव में तुलनात्मक दृष्टि को स्वयं झुका देती है, यह सच है। पर मनुष्य की भौतिक लीला के सुख-दुख का तदनुरूप चित्रण देखने के लिये तो हमको सारा इतिहास पार कर अपने ही युग में आना पडेगा। हाँ, दो नाम अवश्य हैं जो हमारी ज़बान पर आते हैं: ताज और शेख़।

अपने इसी स्वतन्त्र दृष्टिकोण के कारण उर्दू कवयित्रियों का महत्व हमारे लिये कुछ विशेष हो जाता है।

किन्तु अब सांस्कृतिक आधारों का यह अन्तर तेजी से बदलता जा रहा है। व्यक्ति के जीवन में समाज का महत्त्व इतना अधिक हो गया है कि स्त्रियाँ भी कुटुम्ब और गृहस्थ की चिन्ताएँ भूल जाना चाहती है। देश-समाज के राजनीतिक और आर्थिक भविष्य में योग देने की उत्सुकता अब स्त्री-पुरुष दोनों को भावों

के समान तल पर ले आयी है। इस आदर्श का महान आकर्षण हम पहले पहले अंग्रेज़ी में सरोजिनी नायडू और तदनन्तर सत्याग्रह के ज़माने में हिन्दी में सुभद्रा कुमारी की रचनाओं में देखते हैं। लगभग उन्हीं दिनों के बाद देशप्रेम को लेकर कुछ रोमाटिक कवि मैदान में आये, जिन पर कुछ तो नज़रुल इस्लाम का, पर अधिकतर टैगोर और इकबाल का प्रभाव था। इनमे साग़र निज़ामी और इकबाल मुख्य थे। कुछ ही वर्षों में ये कवि समाजवाद की ओर बढ गये। इन्हीं युवक-हृदयों की प्रेरणा ने शिक्षित समुदाय में मौजूदा दौर की उर्दू कवयित्रियों को जन्म दिया, जैसे 'जमाल', 'परवी', 'शायरा' आदि। इन्हें, बहरहाल, अभी अपना स्थान भविष्य में बनाना है। इनके साथ कुछ पुरानी स्त्री-कवि भी हैं, जैसे 'हजाब' और 'वहीद', जिनकी शैली में परम्परा का रंग और अन्दाज़ है, विशेषतः लखनऊ स्कूल की परम्परा का।

यहाँ पुरुष कवियों की परम्परा से ही मतलब है। असल में स्त्री-कवियों की परम्परा का कोई अर्थ नहीं। यही बात नहीं कि इनकी अपनी प्रतिभा का असर कभी किसी युग की शैली पर नहीं पड़ सका, बल्कि उनमें हम बराबर उस्तादों का ही अनुकरण पाते हैं। अभिव्यक्ति में उन्हीं का लहजा, उन्हीं जैसा शब्दों का चुनाव, बल्कि अक्सर उनकी भावनाओं का रूप भी अस्वाभाविक और कृत्रिम हो जाता है, जो सिर्फ इसलिए हमें अधिक नहीं खटकता, क्योंकि हम जानते हैं कि एक हद तक 'ग़ज़ल' और 'महफ़िल' का वातावरण उसे ऐसा बनाता है। दूसरे ईरानी सभ्यता में प्रेम का आरम्भ पुरुष की ओर से ही जायज़ रखा गया है और स्त्रियोचित भावों का चित्रण भी पुरुष के आलम्बनों द्वारा ही मान्य रहा है।

अगर हमें स्त्रियों के अंग और आवरण आदि का खुला-खुला शृंगारिक चित्रण मिलता है, तो विशेषतः नवाब वाजिदअली शाह 'अख़तर-पिया' के ही युग में मिलता है। इसके और पहले जो खास स्त्रियों की भाषा मे रेख़ती का आरम्भ हो गया था, वह एक रूप था प्रतिक्रिया का गम्भीर कविता के प्रति, 'इंशा' और 'रंगीन' और 'जान साहब' का। स्त्रियों का इसमें कोई हाथ नहीं था। रेख़्ती की नितान्त स्वाभाविक घरेलू भाषा में जो एक मोहक चंचलता थी, वह एक अजीब चीज़ थी। अगर कहीं भड़ौवेपन का इसमें आधिक्य न

होता तो शायद शिष्ट और गम्भीर बनाकर स्त्रियों को उसे स्वय अपनाने का साहस हो गया होता। और दुनिया मे उनकी यह एक अद्भुत और मौलिक चीज़ होती।

यों तो, बहरहाल, मौलाना अब्दुल बारी 'आसी' के सग्रह 'तिज़कर तुख्खवातीन' में एकाध रेख्ती गो कवयित्री का भी ज़िक्र है। मसलन् रश्ममहल बेगम, उपनाम 'बेगम'।

इसमें सग्रहीत एक सौ से ऊपर नामों द्वारा हमें इस बात का कुछ आभास मिल सकता है कि गज़ल-रचना के लिये उत्साह कितना व्यापक हो गया था। इसका श्रेय वाजिदअली शाह के रँगीले युग को और विशेषतः 'दाग' और 'अमीर' की असाधारण लोकप्रियता को था। इस शौक मे कैसे-कैसे परदेसी भी खिंच आये थे!

गौहर बेगम एक काबुली रिसालदार की लड़की थी, जो अपने कबीले के साथ, हिन्दोस्तान आयीं। फ़ारसी और पश्तो घर की ज़बान थी, मगर उर्दू में खासी अच्छी महारत पैदा कर ली थी। शेर देखिये :—

ज़ाहिदो! हमसे क्यों तनफ़्फ़ुर है?
सिनअते-कर्दगार हम भी हैं!

(पुजारियो! हमसे घृणा क्यों? हम भी तो उसी कलाकार की कृति हैं।)

बादशाह बेगम 'खफी' (सन् १८५७ ई०) किसी ब्लाक साहब की लड़की थीं, माँ मुसलमानी थी। स्वयं भी किसी मशहूर अंग्रेज़ को ब्याही गयीं। "अँग्रेज़ी फ़ारसी दोनो ज़बानें अच्छी तरह जानती थी।" शेर :—

ए 'खफ़ी! अपने अश्के-बेतासीर
मुफ्त में जगहँसाई करते हैं!

('अश्क', आँसू)

कलकत्ते में कोई पचास साल हुए दो यहूदी बहनें शायरा थीं। पेशा बाज़ारी था। 'परी' और 'माशूक' उनके उपनाम थे। 'परी' के विषय में तो लिखा है कि वह अँग्रेज़ी, उर्दू-फ़ारसी और थोड़ी-बहुत अरबी भी जानती थी। शेर :—

सुन के मेरा गुस्सओ ग़म हँस के कहता है वो शोख़
हम न समझे कुछ कि इस किस्से का हासिल क्या हुआ !

(शोख़, चचल प्रेमिक, 'हासिल', नतीजा, मतलब)

एक दूसरी कवयित्री, 'जमैयत' उपनाम, ईसाई थी। उसकी माँ या नानी हिन्दोस्तानी थी। बाप अंग्रेज़ था। किसी मेजर आरजेस्टन से उसका शादी हुई। आगरे में घर था। उर्दू फ़ारसी के लाभ के अलावा ब्रज भाषा में उनकी होलियाँ, दादरे, ठुमरियाँ आदि मौजूद हैं। एक साफ़ सीधे-सादे शेर में महाविरे का तकल्लुफ देखियेः—

मकसूम की खूबी है य', किस्मत का है एहसाँ
रहता है ख़फा मुझसे जो दिलबर कई दिन से !

एनी, उपनाम 'मलका' (लगभग १८७५ ई०) ब्लैकीअर साहब सुपरिंटेंडेण्ट-पुलिस, कलकत्ता, की लड़की थी। इगलैण्ड में पैदा हुई थी, लेकिन शायद शिक्षा-सस्कार हिन्दोस्तानी हो गये थे। सितार उम्दा बजाती थी। बाद में मुसलमान हो गयी थी। शेर देखियेः—

आँखे पथरा के हो गयी हैं सफेद
किसी बुत की जो इन्तज़ारी है !

('बुत' मूर्ति, अथवा माशूक़)

शिमला और रतलाम जैसे दूर-दराज़ स्थानों में भी उर्दू कवयित्रियो के नाम आते हैं। बहुत-सी ऐसी भी हुई हैं, जो अपने घरों पर मुशायरा कराती थीं। शीरींजान 'शीरीं' (रतलाम) का प्रति वर्ष वसन्त के अवसर पर जो मुशायरा होता था, वह उल्लेखनीय है।

इनमें बहुतों का जीवन अपने युग के सामाजिक जीवन पर मानों एक हलकी-सी टिप्पणी है। अहमदी बेगम, जिनके सिर्फ़ दो शेर मौजूद हैं, सोनीपत के एक शरीफ़ घराने में पैदा हुई और एक सुशिक्षित अमीरज़ादे के साथ उनका विवाह हुआ। पर उनकी साहित्यिक अभिरुचि का विरोध घर में इतना अधिक था, कि उनका 'दीवान' ग़ायब कर दिया गया। जाने क्या-क्या

हौसले इस कवि-हृदय के थे, कि इन्हीं रंजों में क्षयी होकर उसने संसार छोड़ा।

हयातुन्निसा 'हया' ने जो कि बादशाह शाहआलम की पुत्री थीं, यही शेरो-शायरी का शौक लेकर, अपना यौवन और बुढापा क्ुआँरपने में गुज़ार दिया।

मिर्ज़ा अर्ल खाँ, बहादुरशाह 'ज़फ़र' के यहाँ से वज़ीफ़ा पाते थे, इनकी बीवी जब गदर में बेवा हुई तो कुछ ऐसा दुनिया से दिल उचटा कि शेरोशायरी भी छोड़ दी। 'सुरैया' (आकाश गंगा) इनका उपनाम था।

'पारसा' उपनाम एक कवयित्री के विषय में एक अजीब बात लिखी है जो समझ में नहीं आती, यानी कि 'उसकी शादी उम्र-भर इस खयाल से नहीं की गयी कि उनके वालिद इस बात को आर (लज्जाजनक) समझते थे कि कोई दामाद आये। वालिद, नवाब मिर्ज़ा मोहम्मद तर्क खाँ 'हवस' लखनऊ के एक मशहूर शायर थे और नवाब आसफुद्दौला के निकट संबंधी।

सैयद इंशा की एक बाँदी थी, चमेली, 'यासमन' उपनाम था। पुरुषों से उसको तीव्र घृणा थी। 'इंशा' ने इसे ढोंग समझकर उसकी शादी कर दी, लेकिन तीसरे ही दिन किसी अज्ञात कारण से उसकी मृत्यु हो गयी। ख़ैर, स्त्रियों के बारे में ठीक-ठीक पता चलना बहुत कठिन है।

कमरुन्निसा 'कमर' अशरफ़ अलीखाँ 'मसरूर' की धर्म पत्नी थीं और सुन्दर कवि थीं। प्रेम-वियोग असह्य था। इतना असह्य, कि तीन दिन के अन्तर से दोनों की मृत्यु हुई।

प्रेमिकाओं के वर्णन में बिस्मिल्लाह बेगम का नाम, मु० इनामुल्लाखाँ 'यक़ी' सरहिन्द के एक बहुत पवित्र और विख्यात वंश से थे। बिस्मिल्लाह उनकी शागिर्द थी। जब उनके प्रेम की बदनामी फैली, तो स्वयं उनके पिता ने जो अपने युग के एक प्रतिष्ठित कवि थे, क्रोध और ग्लानि के आवेश में अपने पुत्र को क़त्ल कर दिया। यह मीर से एक सीढ़ी पूर्व शाह आलम का ज़माना था।

सन् १८४० ई० में 'बन्नो' एक पर्दानशीन वेश्या कवि दिल्ली में हो गयी है। उसके प्रेम में गुलाबसिंह 'आशुफ्ता' ने आखिरकार जब निराश होकर

एक खंजर से अपना काम तमाम कर लिया तो 'बन्नो' का पूर्व प्रेम पागल हो उठा और वह छै मास से अधिक न जी सकी। उसका शेर है:—

> है गज़ब, वह तो मरे और जियूँ मैं 'बन्नो'
> मौत आ जाय तो हो उम्र दुबारा मुझको !

ग़दर से पूर्व लखनऊ की मशहूर वेश्या उम्मतुल्फातमा, उपनाम 'साहब' जब दिल्ली जाकर बीमार हुई, तो महाकवि हकीम मोमिनखाँ 'मोमिन' के इलाज ने प्रेम का ऐसा रूप लिया कि उनकी प्रेमिका एक सुन्दर कवि हो गयीं। इस प्रकार नवाब शेफ्ताखाँ 'शेफ्ता' ('मोमिन और 'ग़ालिब' के सुविख्यात शिष्य) की प्रेमिका रमजो 'नज़ाकत' अपने प्रेमी के रंग में प्रौढ़ और सुन्दर रचना करती थी। इनका एक शेर यहाँ दिया जाता है:—

> गुनह क्या सनम के नज़ारे में, ज़ाहिद !
> यह जलवा खुदा ने दिखाया तो देखा !
>
> —'साहब'

('सनम', बुत, माशूक, 'ज़ाहिद', विधि-निषेध मानने वाला, पुजारी, 'जल्वा', सौंदर्य की आभा।)

> क्यों न मैं .कुरबान हूँ, जब वो कहे नाज़ से—
> हमको जफा का है शौक, अहले-वफ़ा कौन है !
>
> —'नज़ाकत'

('जफ़ा', .जुल्म, 'अहले-वफ़ा', वफ़ादार प्रेमी)

लेकिन कवयित्रियों के इतिहास में सबसे अद्भुत जीवन 'चन्दा' का है। अठारहवीं शताब्दी के अन्त में दखिन में एक काफ़िला लुटता है। एक वज़ीर की लड़की को डाकू पकड़ ले जाते हैं। सन् १८०० ई० के लगभग वह लड़की हैदराबाद की मशहूर रईसा, कवि और तवायफ होती है। पाच-सौ सिपाही उसके दरवाजे पर हर समय मुस्तैद रहते हैं। सैकड़ों कवि उसका यश-गान करके धनवान बनते हैं। काव्य और संगीत ही नहीं घुड़सवारी और तीरन्दाज़ी के लिये भी उसकी ख्याति दूर-दूर है। 'चन्दा' का दीवान बहुत क़द्र के साथ एक अंग्रेज़ विलायत ले जाता है, जो आज भी लन्दन के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

ग़दर के बाद का ज़माना। एक शरीफ़ घर की स्त्री। उपनाम, 'सन्दल'। मगर आवारगी उसको मेरठ ले जाती है। बाद की हालत यह कि बग़ैर भीख का एक टुकड़ा मिले उपवास भी नहीं टूटता। खैर, एक वेश्या के जीवन में यह कुछ अनहोनी बात नहीं।

.. सरदार बेगम, लखनऊ के एक सभ्य घराने की स्त्री गदर के बाद विधवा होकर, कानपुर, कन्नौज, इटावा में मारी मारी फिरती है। अख़िर इटावे में ही अपनी बेटी को नाच-गाने की शिक्षा देकर बाकायदा एक डेरेदार तवायफ़ की तरह रहने लगती है। बिलकुल नाख्वाँदा है, मगर अशआर मानों उसके भ्रमते जीवन का चित्र हैं :—

लगाया मैंने जो तुमसे दिलको,
तुम्हारे दिल पर निहाँ न होगा!
उठाए सदमें है जितने मैंने
जहाँ में किस पर अयाँ न होगा।
('निहाँ', छिपा हुआ, 'अयाँ' प्रगट)

पजाब की एक नर्तकी लखनऊ पहुँची। नवाब वाजिदअलीशाह ने उसके गुण पर मुग्ध होकर उसे अपने हरम में दाखिल किया और 'रश्क-महल' का खिताब दिया। लखनऊ का खेल बिगड़ने पर वह नवाब के साथ-साथ कलकत्ते गयी और अन्त तक साथ रही। बेगम उपनाम था। रेख्ती में कविता करती थी, यद्यपि बाद में पुरुषों की शैली में कहने लगी थी।

यह निर्विवाद है कि उर्दू भाषा का सहजतम स्वाभाविक लोच, उसका सरल अकलुष सौन्दर्य और गम्भीर माधुर्य हमें केवल देहली और लखनऊ की बेगमात की ज़बान में मिल सकता है। उनकी भावनाओं में एक शिक्षित विकास है, जिसके कारण कल्पना के गहरे रंग इनके यहाँ नहीं मिलते; लेकिन अधिकारपूर्ण मीठे लहजे में एक हलकी-सी बेपरवाई की शान, पर्दों में एक अनजान-सी रागात्मिकता, एक लय; पर जिसमें बहुधा ताल और सुर की वैसी स्पष्ट-सी झलक नहीं जैसी कि वेश्याओं की ग़ज़लों में है; गति में एक धैर्य, और भावों के वातावरण में एक प्रतीक्षा की-सी छिपी हुई उदासी, इनके

नहीं है , इसमें आमोद अगर है, तो वह घिरे हुए उद्यानों का आमोद है। अस्तु, सामान्य रूप से इनका काव्य सुगठित, प्राञ्जल और दोष-रहित है। कहीं-कहीं अभिव्यक्ति सरस होते हुए मार्मिक भी हो गयी है।

लखनऊ और दिल्ली के बाहर हमें सिर्फ दो नाम मिलते हैं—रामपुर की बहू बेगम 'बहू' (लगभग) १८५० ई०) और भोपाल की नवाब शाहजहाँ बेगम 'शीरीं' (बीसवीं शताब्दी का आरम्भ)। 'शीरीं' के ये दो-तीन शेर हैं :—

ख़ालिक है ख़ुदाए-सहरो-शाम हमारा
मशहूर उसी ने य किया नाम हमारा !

('ख़ालिक', जन्मदाता, 'ख़ुदाए-सहरो-शाम', प्रात और सन्ध्या के जीवन का मालिक, ईश्वर)

आती है हवा सर्द घटा उठती है घनघोर
मगवाओ सुराही-ओ-मयो-जाम हमारा !

('मय', शराब)

लुत्फ़ क्या पाओगे तनहा दिले-शैदा लेकर
देखिये सैर भी कुछ यासो-तमन्ना लेकर !

(केवल मेरा आसक्त हृदय ले लेने से क्या आनन्द मिलेगा ! कुछ उसके साथ आशा और निराशा लेकर भी ज़रा उसकी सैर देखिये !)

जनिया बेगम, जो जहाँदार, वलीअहद, बादशाह देहली, की 'खास महल' थीं शायद उर्दू की "प्रथम कवयित्री" मानी जायँगी। (लगभग सन् १७१० ई०)। इस शेर में 'नित' शब्द पर गौर कीजिये :—

न दिल को सब्र, न जी को करार रहता है ;
तुम्हारे आने का नित इन्तज़ार रहता है !

दिल्ली में सन् १७६५ ई० के लगभग गन्ना बेगम 'शोख़' का मशहूर नाम आता है। आलमगीर दोयम के वज़ीर नवाब इमादुल मुल्क ग़ाज़ी-उद्दीन ख़ाँ की पत्नी थीं। इनके अशआर में एक गम्भीर सरस कल्पना का पुट मिलता है। अभिव्यक्ति की शैली भी सुन्दर है। 'सौदा' और 'सोज़' की शागिर्द थीं। उसी ज़माने की भाषा है—

शमा की तरह कौन रो जाने !
जिसके दिल को लगी हो, सो जाने !

अब्र छाया है, मेंह बरसता है ,
जल्द आजा—कि जी तरसता है !

रकीबो से वो जिस दम हँस रहे थे रूबरू मेरे
मेरी हर मिज़ः, ए दर्दे-जिगर, मोती पिरोती थी ।

('रूबरू' सामने , 'मिज़ः', बरौनी)

दूसरा श्रेष्ठ नाम धार्मिक कवि नवाब अ.ख्तर महल तैमूरिया का है, जो सन् १८७५ ई० के लगभग जीवित थीं। इनकी कविता के उदारण में गहरे भक्तिभाव के साथ भाषा और छन्द पर इनका मार्मिक अधिकार प्रकट होता है। फ़ारसी कवि '.कुद्सी' की एक मशहूर ग़ज़ल पर इन्होंने सुन्दर पद लगाये हैं। यहाँ दो बन्द दिये जाते हैं :—

सबसे पहले किया पैदा तेरा अल्लाह ने नूर
पर्द ए—ज़ात में उस नूर को रक्खा मस्तूर
और उस नूर का इज़्हार हुआ म.ज़ूर
'ज़ाते-पाके-तो दरीं मुल्के अरब कर्दा ज़हूर
ज़ाँसबब आमदा .कुरआँ बज़बाने-अरबी !'

('ज़ात', सत्ता , 'मस्तूर', छिपा हुआ , 'इज़हार', प्रकटीकरण , फ़ारसी शेरः—[तब ए हज़रत मोहम्मद !] तेरी पवित्र हस्ती, अरब के मुल्क में प्रकटी, और इस कारण कुरान-शरीफ़ अरबी ज़बान में आयी।)

हो गयी लह्वो-लअब में ही मेरी उम्र बसर
यादे खालिक में न मशरूफ़ हुई मैं दम भर
घिसती हूँ नासियए-इज्ज़ को तेरे दर पर
'चश्मे-रहमत बकुशा सूए-मन अन्दाज़े-नज़र
ए .कुरैशी-लकबी ! हाशमी ! ओ मत्तलबी !

'लह्वो-लअब', खेल-तमाशा, 'खालिक', पैदा करनेवाला; 'मसरूफ़', निरत, नासियए-इज्ज़', दीनता का माथा। फारसी शेर :—ओ कुरैश, हाशिम और मत्तलब के वंशज (हज़रत मोहम्मद!) मुझ पर दया-दृष्टि डालो!)

आसफ़ुद्दौला की पत्नियों में बेगमजान उर्फ़ बहूजान 'जानी' और 'दूल्हन' ग़ज़ल कहती थीं। नवाब वाजिदअली शाह के हरम में हम सात कवयित्रियों के नाम पाते हैं, जिनमें हैदरी बेगम 'कमर' और नवाब बेगम 'हजाब' मुख्य हैं। हम यहाँ इनका एक एक शेर देते हैं :—

क्या पूछता है, हमदम, इस जाने-नातवाँ की
रग-रग में नेशे-गम है, कहिए कहाँ-कहाँ की।

—'जानी'

('जाने नातवाँ', दुर्बल प्राण, 'नेशे-गम', दुःख-शूल, 'हमदम', साथी)

बहा है फूट के आँखों से आबला दिल का,
तरीकी राह से जाता है काफ़िला दिल का!

—दुल्हन

दिले-नाशाद को तुमने न कभी शाद किया
भूलकर बैठे हमें, फिर न कभी याद किया

—'कमर'

('शाद' प्रसन्न)

बन के तस्वीर, 'हजाब'! उसको सरापा देखो!
मुँह से बोलो न कुछ आँखों से तमाशा देखो!

—'हजाब'

गृहस्थ कवयित्रियों में हम कला की अनुभूति कम पाते हैं। कभी-कभी तो भाषा मानो भाव को सयत भी नहीं कर पाती। सफलता की सतह यद्यपि साधारणतया ऊँची नहीं है, पर कई कारणों से ये कवि परम्परा से जो अधिक प्रभाव ग्रहण नहीं कर पाते हैं इससे उनके छन्दों में किंचित् अधिक उन्मुक्त आत्मस्पन्दन महसूस करते हैं, और जहाँ भावों को अधिक सुसस्कृत शैली प्राप्त हुई है, वहाँ तो उनका प्रभाव दूना हो गया है; जैसे कमरुन्निसा-'कमर' में,

कामला बेगम 'जाफरी' में और शम्सुन्निसा 'शर्म' की गज़लों में। सिकन्दरजहाँ बेगम 'ज़िया' का नाम भी उल्लेखनीय है। इस वर्ग के कवियों के कुछेक दोषों का हम अन्यत्र ज़िक्र करेंगे। यहाँ हम थोड़े से नमूने इन प्रमुख कवयित्रियों के देते हैं :—

कहा मन्सूर ने सूली पे चढकर इश्कबाज़ों से,
य, उसके बाम का ज़ीना है, आये जिसका जी चाहे !

—'जाफ़री'

(भक्ति और तन्मयता में मन्सूर कह उठा था कि—'मैं ईश्वर हूँ !' जिसके लिये उसको सूली पर चढा दिया गया था।)

करें, कह दो, मुँह बन्द ग़ुंचे सब अपना
मैं लिखती मोअम्मा हूँ उसके दहाँ का !

—'कमर'

('ग़ुंचे', कलियाँ, 'मोअम्मा', भेद, 'दहाँ', मुँह)

गिर पड़ूँ यार के कदमों पे अगर पी है शराब,
हाथ आया है बहाना मुझे बेहोशी का !

—'शर्म'

इश्क को दीन समझता हूँ, वफ़ा मज़हब है
ए सनम तुझसे जो फिर जाऊँ तो काफिर हूँ मैं !

—'ज़िया'

नृत्यानुसार कवियों का वर्गीकरण करना अन्याय है, पर तवायफ़ों की कलाकृति उनके जीवन की एक ऐसी सुकृति है, जिसका महत्व उन्नीसवीं शताब्दी के उर्दू काव्य-जगत में विशेषरूप से विचारणीय है।

साधारणतया हेय चाहे समझा जाता रहा हो, पर उस ज़माने के सभ्य समाज की दृष्टि में यह वर्ग घृणा का पात्र नहीं था। बल्कि ऊँचे वर्गों में इनका एक हद तक काफी आदर होता था। इस वर्ग की संस्कृति और सुरुचि

सर्वविदित थी। पर सन् '५७ की क्रान्ति के फलस्वरूप वह सामन्त-युग ही उलट गया, जिसका कि यह एक आवश्यक-सा अंग बन गया था। तदनन्तर, सामाजिक सुधारों के आन्दोलनों से प्रभावित मध्यवर्ग में संगीत और कला की शिक्षा धीरे-धीरे—बहुत धीरे-धीरे—आम होने लगी; और इधर वेश्याओं के जीवन में कला-पक्ष का महत्व उसी तरह धीरे-धीरे कम होने लगा। इसके साथ-साथ उनके सांस्कृतिक जीवन की सतह भी नीची होती गयी।

इनके इतिहास में कितनी ही रस मर्मज्ञ और सुन्दर कलाविद् हुईं। खेद है कि इनकी फुटकर रचनाएँ भी हमें बहुत कम प्राप्त हैं। तथापि जो कुछ है, उससे हम उनका जीवन, और जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है, यह समझ सकते हैं। सबके साथ मिलाकर उनपर विचार करने से हमें काव्य में उनकी श्रेयतां का सही अनुमान नहीं हो सकता था। उनका हृदय समाज के अन्य वर्गों से कुछ भिन्न नहीं है। कृत्रिमता ही उनके जीवन की शिक्षा है, यह सत्य है, फिर भी हम कह सकते हैं कि उनका हृदय भावुकता की एक काफ़ी प्राचीन प्रयोगशाला है। प्रयोगफल में अधिकांश मदिर वासना की ही तीव्र अथवा क्षीण गन्ध होगी, यह भी हम बहुत हद तक माने लेते हैं। पर प्रेम की आँच से थोड़ा-बहुत भी द्रवित हुए बिना एक प्रकार की अन्तर अथवा अपर दृष्टि की थोड़ी-बहुत भी विकलता प्राप्त किये बिना, कैसे उनकी छन्दोबद्ध वाणी में गति और लय का प्रसादपूर्ण प्रभाव और सौन्दर्य की हलकी-सी भी स्थिरता आ सकी है? नहीं, अनुभूति की सत्यता का मोल बहुत ऊँचा होता है, और उसका एक अणु भी सिर आँखों पर उठाने की चीज़ है। यहाँ अन्य वस्तुओं से हमें प्रयोजन नहीं।

इन कवयित्रियों में जहाँ दसियों ऐसी हैं, जिनमें बाज़ारी रंग प्रचुरमात्रा में आ गया है,—और स्मरण रहे, कि अपने युग से कोई अलग शैली इनमें से किसी ने नहीं निकाली—वहाँ कईयों ने अपनी प्रतिभा का गम्भीर सबूत दिया है।

रमजो 'नज़ाकत' का शेर है—

सुर्मए-खाके-पा इनायत हो
आ गया है ग़ुबार आँखों में।
(सुर्मए-खाके पा' पद-रज का सुर्मा।)

'फ़र्रुख़' :—

हमारे कत्ल की तदबीर बेतकसीर होती है
निगाहे-पाक की शायद यही तासीर होती है !

(पवित्र दृष्टि से देखने का फल शायद यही होता है कि हमारे निरपराध मारे जाने का आयोजन हो रहा है ।)

चन्दाजान 'हिलाल' :—

एक काहीदगी काफ़ी नहीं होती है 'हिलाल'
लोटना पड़ता है उश्शाक को अंगारों पर !

('काहीदगी,' दुर्बलता ।)

महबूबाजान 'कातिल' का मकता है :—

फ़कीरे-इश्क है 'कातिल,' खुदा के बन्दे हैं
उमीदे-वस्ल है परवर्दिगार से हमको !

(प्रेम के फ़कीरों को तो संयोग की आशा ईश्वर से है !)

बेगाजान शीरीं :—

दिलमें जगह बनायी है रहने की आपने
हैरौं हूँ मिस्ले आइना आए किधर से आप !

('हैरौं हूँ,' मुझे आश्चर्य है । 'मिस्ले-आईना,' दर्पण की तरह)

सौन्दर्य का वर्णन किस अन्दाज़ में हुआ है, देखिये—

सर से पा तक कि जो हो नूर के साँचे में ढला—
ए 'हजाब' उसको भला प्यार करूँ या न करूँ !
—मोहम्मदीजान 'हजाब'

एक प्रेमी की शादी पर ईर्ष्या का स्वाभाविक तेवर देखिये—

है ऐश उसके जी को, अजी, ग़म बहुत है याँ
शादी वहाँ रचायी है, मातम बहुत है याँ
—अचपल (सन् १८४०)

वह छेड़-छाड़ का लुत्फ़ और बात कहने का अन्दाज़ जो 'दाग' और 'सबा' और 'अमीर' की शायरी की जान है और 'ज़ौक' और 'मोमिन' के कलाम की विशेषता है, हमें इनके यहाँ भी मिलती हैं, यद्यपि कवयित्रियों में यह अक्सर एक मामूली-सा पद्यमय वार्तालाप मात्र होकर भी रह जाता है, जैसे 'ज़ोहरा' (अम्बाला) की गज़ल में:—

आओ जी आओ खुदा के वास्ते !
रहम फ़रमाओ खुदा के वास्ते !
ज़ुल्फ़ें सुलझाओ खुदा के वास्ते
जी न उलझाओ खुदा के वास्ते ! ..इत्यादि।

या मसलन् छोटी बेगम 'दिलबर' की इस गज़ल में:—

अपने आने की जो सुनाते हो
शेखी नाहक य' तुम जताते हो !

तथापि ये सरस और सांकेतिक पंक्तियाँ भी देखने योग्य हैं, मुहाविरे की ख़ूबी देखिये, फरिश्तों को किस तरह ताना दिया है—

शेखी की लिया करें फरिश्ते !
जाने की वहाँ मजाल भी है !

—मुख्तरी

('शेखी की लिया करें,' चाहे जितनी अपनी बड़ाई करें ! 'वहाँ,' स्वर्ग अथवा प्रेम के पवित्रतम स्थान में।)

क्यों न मैं कुरबान हूँ, जब वो कहे नाज़ से
'हमको जफ़ा का है शौक अहले वफ़ा कौन है !'

—'नज़ाकत'

रक़ीबों का जलना कहाँ देखता तू
समाँ यह मेरे घर में आया तो देखा !

(यानी ईर्ष्या और प्रेम के संसार में प्रेमीविशेष के कुछ भोलेपन का चित्रण है।)

कहा ये देके जनाज़े को यार ने काँधा—
सफ़र है दूर का, यारो, कदम बढाए हुए !

—'मख़मूर'

जिसके प्रेम में मृत्यु नसीब हुई है, वह जनाजे में काँधा लगाए हुए साथ चल रहा है। इस पथ का अन्त वह कहाँ तक देखता है, इसका भाव-चित्र किस स्वाभाविक असर के साथ खींचा गया है।

निकृष्ट भावनाएँ भी इनके यहाँ हैं, पर यह एक अजीब बात है कि श्री अब्दुलबारी 'आसी' द्वारा सम्पादित "तिज़करतुल्ख़वातीन" में हम जो एक निर्लज्जता-सी कभी-कभी गृहस्थ कवयित्रियों में आ जाती हुई देखते हैं, वह इनके यहाँ कहीं अगर है, तो एकदम उस असुन्दर रूप में नहीं है। इस मौके पर एक भी तुलनात्मक उदाहरण देना असगत होगा। फिर भी प्रमाण देने के लिये तो हम विवश हैं।

कादरी बेगम 'कादरी' का एक शेर है—

मैं हूँ फ़कत और तुम नाम नहीं ग़ैर का
पाँव मेरी गोद में शौक से फैलाइये।

इसी बात को तवायफ़ यों कहती है—

हम हैं और आप हैं, ख़िल्वत में कोई ग़ैर नहीं
क्या अजब चैन से हो जाय बसर वस्ल की रात !

—'परी'

('ख़िल्वत', एकान्त ; 'क्या अजब', कुछ असम्भव नहीं।) बहरहाल इस विवाद में न पड़कर, कुछ पदों में उनके जीवन-विशेष का प्रतिबिम्ब देखें, हमको कैसा मिलता है।

'बस्ती', ज़रूर चाहिये असबाबे-ज़ाहिरी !
दुनिया के लोग देखनेवाले हवा के हैं !

('असबाबे-ज़ाहिरी', दिखावट का सामान ; 'हवा' ज़ाहिरी तड़क-भड़क)

ज़िंदगी तक के आश्ना हैं य' लोग ,
मर गये पर—ये आश्ना किसके !

—'मनूवर'

जवानी में भली मालूम होती थी ये आराइश ,
बुढापे में तो मेंहदी-मिस्सी की है खाक जेबाइश !

—'आराइश'

('आराइश', साज-शृङ्गार , 'जेबाइश', सजावट)

य' मह्वे-दीदे रु.खे-गुल है बुलबुले-शैदा
खबर नहीं कि चमन से बहार जाती है !

—'अमीर'

(य' मह्वे दीदे-रु.खे-गुल है', पुष्प का मुख-दर्शन करने में इतनी लीन है , 'शैदा', आसक्त)

मेरी तुरबत दिखा के कहते हैं
अपने हाथों ये जान खो बैठे !

—'नाज़' फर्रुखाबादी

कुछ सयोग और वियोग के विषय पर :—

आये न मुझे नींद शबे गम तो उसे क्या,
जो चैन से सोता है, उसे किसकी पड़ी है

—'गुलज़ार'

मुँह से बोलो तो सही, काहे की घबराहट है
बात की-बात मे होती है सहर वस्ल की रात !

—'नाज' (आरा)

शोख हो, बेबाक हो, सफ्फ़ाक हो, चालाक हो
क्यों शबे-वस्लत में मुझसे आप शर्माने लगे !

—मुन्नीबाई 'हिजाब'

(प्रथम पंक्ति—तुम तो चपल और चंचल हो, निडर हो, प्राण हरनेवाले हो, और तुम तो चतुर हो ! 'शबे वस्लत,' मिलन-निशा)

यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कुछेक प्रमुख तवायफ़पेशा कवयित्रियों का परिचय दे देना भी मुनासिब होगा। 'चन्दा' का ज़िक्र पहले आ चुका है। स्त्री-कवियों में सबसे पहले 'चन्दा' ने ही अपना दीवान प्रकाशित किया। इनकी छोटी छोटी ग़ज़लों के भाव और भाषा में एक आत्माभिमान का गौरव झलकता है।

इख़लाक से तो अपनी वाकिफ़ जहान हैगा,
पर आपको ग़लत कुछ अब तक गुमान हैगा !

(हमारे शिष्ट स्वभाव और व्यवहार को संसार जानता है, पर आपको अभी तक दिल में न जाने क्या सन्देह है !)

'बन्नो' की ग़ज़ल तो विलाप, वेदना और विरह के तड़प की एक ज़िंदा तस्वीर हो गयी है।

छोड़कर मुझको कहाँ ओ बुते-गुमराह चला !
तू चला क्या कि य' दिल भी तेरे हमराह चला !

उम्मतुल फ़ातमा 'साहब' (लगभग १८४८ ई०) और रमज़ो 'नज़ाकत' (लगभग १८५५) मशहूर कवयित्रियाँ थीं। इनमें हम वास्तविक प्रेम की एक गहरी सांकेतिक अभिव्यक्ति देखते हैं। 'नज़ाकत' में फ़ारसी का प्रभाव सुन्दर रूप से आया है। इनकी कविता के उदाहरण ऊपर आ चुके हैं।

अपनी सरस स्वाभाविक अभिव्यक्ति में सरदार बेगम 'सरदार' शायद सर्वश्रेष्ठ हैं। कहीं-कहीं भाषा में ज़रा-सा पुरानापन ज़रूर आ जाता है; पर भावपक्ष में देखिये तो उनके यहाँ कई-कई भाव अपनी उलझन का संसार एक साथ लेकर उठते हैं। उनमें अज्ञात भविष्य की एक विचित्र-सी प्रतीक्षा रहती है।

न लगी फिर आँख सहर तलक, मुझे अपनी याद दिला गये !
मेरे पास से वो चले गये, मेरे दिल को लेके हिला गये !

दिल मेरा उठ गया ज़माने से !
मौत आये किसी बहाने से !

है ख़ौफ़ मुझको अकेले घर का, कि होगा वाँ पर गुज़ारा क्योंकर
मदद को मेरी जो लुत्फ़े-यज़्दाँ नदीमो-हमदम वहाँ न होगा !

('लुत्फ़े य.ज़्दाँ,' परमेश्वर की कृपा , 'नदीमो-हमदम,' मेरी सुननेवाला, मेरा साथी ।)

कमरनजान उर्फ़ मझो 'मुश्तरी' की ग़ज़लें अपने युग के उस्तादों की-सी पुख़्तगी लिए हुए हैं, और उनमें हमें लखनऊ की भाषा और अन्दाज़ का उत्तम नमूना देखने को मिलता है। आगाअली 'शम्श' की शागिर्द थीं।

• नाइक हैं नाज़े-हुस्न से ये बे नियाज़ियाँ
बन्दा नेवाज़ आप किसी के .ख़ुदा नहीं !

('बेनियाज़ियाँ,' प्रेमी के प्रति बेपरवाई)

बातें तो वे करते हैं .ख़ुशी की
चेहरे से अया मलाल भी है !

आगरे की पुखराज बेगम 'पुखराज' (लगभग १८८० ई०) के विषयों में मृत्यु, क़ब्र और स्वप्न की न जाने क्यों प्रधानता नज़र आती है। फिर भी उसमें एक प्रवाह है, और संगीत की कलात्मक ध्वनि के साथ।

दुनिया में मिस्ले-ख़्वाब हमारी हयात है
क्योंकर ख़याले यार न पेशे नज़र रहे !

('मिस्ले-ख़्वाब', स्वप्न की तरह; 'हयात', जीवन, 'पेशे-नज़र', दृष्टि-सम्मुख)

तारीकिए-अमल से किया गारे में मुकाम
मज़िल में शब हुई तो सरा में उतर रहे !

('तारीकिए-अमल', कर्मों का अन्धकार, 'गोर, क़ब्र; 'शब', रात्रि 'सरा', सराय)

मुन्नीबाई उर्फ़ मँझली 'हजाब', जिसपर नवाब दाग़ बेतरह आसक्त होगये थे, कलकत्ते की एक ज़िन्दादिल शायरा थी। इस कवि की भावुकता अक्सर

एक विकल उल्लास लिये हुए जान पड़ती है, जिससे उसके बाज़-बाज़ शेर का अन्दाज़ बहुत तीखा और शोख़ हो जाता है।

वह, और मेरे घर में चले आयँ खुद ब खुद
सर पर मेरे 'हुबाब' मगर आसमाँ नहीं!

('मगर', सम्भवतः, शायद)

उनसे कह दो कि हमें तुमसे ये उम्मीद न थी
वादा हमसे हो, रहो ग़ैर के घर वस्ल की रात!

(उनसे कह दो का अर्थ यह है कि प्रेमी को बाहर-ही-बाहर कहलवाया जा रहा है।)

कल्पना का सौन्दर्य, शैली का आकर्षण और भावों की सरल कोमलता—ये गुण हैं जो हमें मोहम्मदी जान 'शबाब' (कलकत्ता) की कविता में मिलते हैं।

सर से पा तक कि जो हो नूर के साँचे में ढला
ए 'शबाब' उसको भला प्यार करूँ या न करूँ!
इश्क में जानके दुश्मन को मसीहा समझे
और फिर दिल में समझते हैं कि अच्छा समझे!

आधुनिक युग

उर्दू काव्य में महिलाओं की नयी प्रगति का इतिहास अस्ल में योरपीय महासमर के कुछ काफी बाद हमारे ही युग में शुरू होता है। आज महिलाओं के लिये कला और काव्य का क्षेत्र वर्जित नहीं। देश की राजनीतिक जाग्रति, स्त्रियों के अधिकारों की चर्चा, सन् ३०-३१ के सत्याग्रह के बाद धीरे-धीरे समाजवाद का प्रचार, फलस्वरूप 'साग़र' और 'जोश' जैसे समाजवादी कवियों की उर्दू में द्रुत-गति से बढती हुई लोक-प्रियता—इन सब कारणों ने सुशिक्षित वर्गों में आधुनिक कवयित्रियों को जन्म देना शुरू किया। अब भी इस लहर में विशेष ज़ोर नहीं आया है। गृहस्थ-जीवन के विषय कवियों की भावुकता से दूर पड़े हैं। अभी कितनी महिलाएँ अपनी रचनाएँ (यद्यपि वह काफ़ी प्रौढ और सुन्दर होती हैं) छपाना अच्छा नहीं समझतीं। अगर किसी के बहुत अनुरोध से कहीं कुछ छपने देती भी हों, तो अपना नाम ज़ाहिर नहीं होने देतीं। संग्रहकार को उनके जन्मस्थान, वंश आदि का विवरण प्रकाशित करने की सख्त मुमानियत कर दी जाती है।

कुछ इक्का-दुक्की पुरानी शैली और परम्परा की अनुयायी अब भी हैं (या अभी तक थीं), जिनमें स्व० फखरुन्निसा बेगम 'हनाब' शाहजहाँपुरी का नाम ख्याति प्राप्त कर चुका है। ये ग़ज़ल की परम्परा से ख़ूब-ख़ूब परिचित थीं। लखनऊ की शैली 'मामलाबन्दी' अर्थात् छेड़-छाड़ का पहलू अच्छी तरह निभाती थीं। इनके यहाँ शब्दों का विन्यास और मुहाविरे का प्रयोग बहुत सुरुचिपूर्ण होता था।

वो तड़पाना किसी बेदर्द का मुझको निडर होकर
वो मेरा डरते-डरते शाकिए-दर्दे-जिगर होना!

('शाकी होना,' शिकायत करना)

यूँ तेरे गहरे तसव्वुर से हमें होश आ गया
जैसे चौंक उट्ठे कोई ख़ाबे-परीशाँ देखकर!

('तसव्वुर,' ध्यान, ख़ाबे-परीशाँ,' बिखरा हुआ स्वप्न)

अल्लादी 'शरारत' गाज़ियाबाद की एक मशहूर तवायफ़ हैं। इनकी ग़ज़लों में अभ्यास की प्रौढता लिये हुए एक सागीतिक प्रवाह रहता है।

ख़ुदा गवाह है, सबको जताए देते हैं
हम उनकी चाह में खुद को मिटाये देते हैं!
नशीली आँखें ही काफी हैं मुझको, ए साकी!
ये दो पियाले ही बेखुद बनाये देते हैं!

आधुनिकतम स्त्री-कवियों को हम तीन-चार समूहो में विभक्त कर सकते हैं। गद्य-काव्य लिखने वालियो का हम यहाँ ज़िक्र नहीं करेंगे। अस्तु कुछ हैं जो रोमाटिक हैं, कुछ सीधे-सादे ढग से विविध विषयों पर अभ्यास करती हैं, कुछ ने समाजवाद के आदर्श अपनाने शुरू किये हैं, और कुछ आधुनिक ग़ज़ल में ही अपनी प्रतिभा को निखार रही हैं। जो महिलायें गज़ल के आदर्श अपनाकर रोमाटिक वातावरण लेकर चली हैं, उनमें 'जमाली' 'सायरा,' 'ज़रीफा,' 'शौकत-दुल्हन,' 'हुमायूँ,' आदि के नाम आते हैं।

'जमाली' बरेलवी की काव्यानुभूति औरो से कुछ अधिक गहरी मालूम होती है, विशेषकर ग़ज़ल में; और उनमें भाव कल्पना और सगीत का शायद सबसे अधिक सफल और पूर्ण मिश्रण है।—यद्यपि उनके प्रकाशित सग्रह 'आईनए-जमाल' में कृत्रिम आवेश और भावुकता ने प्रारम्भिक भाग की कविताओं में बहुधा शब्द-विन्यास की गम्भीरता नष्ट कर दी है। (लेकिन इस सग्रह में ग़ज़लें नहीं हैं।) फिर भी कई नज़्मों में कवि को आश्चर्य-जनक सफलता मिली है, जैसे 'प्यारी बहनों से' और 'बहरे राहे-इजाज़' में भी। अन्तिम भागकी कविताओं की प्रौढ सरस अभिव्यक्तियों में कोमल भावुकता का सुन्दर पुट है, जैसे 'जेबुन्निसा फुलझडी छोड़ रही है' और 'दरिया के किनारे' कविताओं में। यहाँ केवल अन्तिम कविता से कुछ पद्य दिये जा सकते हैं—

पानी बहता चलता है, कुछ दुख सहता चलता है।
सन्नाटा-सा कुछ छाया है, पानी कुछ मुरझाया है।
लहरें हैं कुछ मैली-मैली, मौजें हैं कुछ फैली फैली।
तारे झुक-झुक पड़ते हैं, पत्ते चुप-चुप झड़ते हैं।
अब्र के टुकड़े उड़ते हैं, कटते हैं, फिर जुड़ते हैं।......

चाँद भी है कुछ खोया-खोया, कुछ जागा-सा, कुछ सोया-सोया।
अब्र में छिप-छिप जाता है, हर तारे को चमकाता है।
कुछ बहका-बहका चलता है, पानी में सरकता चलता है।

—'दरिया के किनारे'

दो-तीन ग़ज़ल के शेर सुनिये—

इस्ती से मेरी पहले वाकिफ़ न था ज़माना,
उस बुत की इक नज़र ने मशहूर कर दिया है!

('हस्ती,' जीवन, 'बुत,' प्रेमिक)

किये जो दर्द से नाले असीर बुलबुल ने
• कुछ ऐसी ओस पड़ी, फूल मुस्करा न सके!

('नाला करना,' उच्च स्वर से रोना, 'असीर,' बन्दी)

चले तलाश में उसकी रहे-तलब में मगर
कुछ ऐसे खोये कि अपनी खबर भी पा न सके!

('रहे-तलब,' खोजने-पाने की राह

'सायरा'—यही नाम है, और उपनाम भी—में वह माधुर्य नहीं जो 'जमाल' में है, पर उनमें भावों की एक विकल सरसता है; अभिव्यक्ति में एक परिमार्जित सौन्दर्य और प्रवाह है।

समझ रखा था मैंने अख़्तियारी वलवला दिल का
तुम्हारे हाथ में है मेरी किस्मत, मैं न समझी थी।

('वलवला,' जोश)

किसी को ख़्वाब में बेचैन कर डाला मोहब्बत ने
ख़यालों में भी होती है ये क़ुव्वत मैं न समझी थी!

'शौकत-दुल्हन' ललितपुरी और 'हुमायूँ' मेरठी की रचनाओं में साहित्यिक सौष्ठव विशेष रूप से है। 'हुमायूँ' में अभिव्यक्ति का नयापन-सा और ताज़गी शायद अधिक है। 'शौकत-दुल्हन' मशहूर कवि 'शौकत' थानवी की धर्म-पत्नी हैं। कल्पना इनकी अच्छी होती है

नहीं मालूम कितने इसके बाद कितने इनकलाब आये,
जनूँ के साथ इक सहरा भी आया था मेरे घर में।

('जनूँ', पागलपन, 'सहरा', मरुभूमि।)

'हुमायूँ' :—

वादए-वस्ल कर नहीं देते
फूल की तरह मुस्कराते हैं!

इन महिलाओं में जिसका रसिक हृदय यौवन की रंगीनियों में सबसे अधिक मस्त मालूम होता है, वह स्व० 'नसरी' ('परवीं') हैं। अज़ीज़ा आबदा ख़ानुम नाम। मथुरा की एक सम्मानित महिला थीं। इनमें रोमाटिक भावों का स्वातन्त्र्य पुरुषों का-सा है। कल्पना में कोई चमत्कार नहीं, पर वह सजीव है। 'साग़र' निज़ामी की शैली का असर काफ़ी मालूम होता है।

शिशिर पर एक रुबाई देखिये :—

१—बाग़ों में वो लुत्फ़ सैर का भी न रहा
४—जमना में नहाने का मज़ा भी न रहा
३—सर्दी ने निशाते-सुबह पानी कर दी
२—बर्फ़ाब का ज़ौके-जाँ-फ़िज़ा भी न रहा!

('बर्फ़ाब', बर्फ़ का पानी, 'ज़ौके-जाँ-फ़िज़ा', प्राणों को आनन्द देने वाली आकांक्षा, 'निशाते-सुबह', प्रभात का सुख; 'पानी कर दी', मिटा दी।)

ग़ज़ल का रंग :—

ख़बर मेरी न ली बरबाद करके फ़ितनागर तू ने,
मैं तकती रह गयी और फेर ली अपनी नज़र तूने!
अभी इक तीर-सा सीने में आकर कर गया ज़ख़्मी,—
किया था क्या, ख़ुदा मालूम, सीना तान कर तू ने!
दिल ही नहीं कि तुझको दूँ नज़रे-मोहब्बते-अज़ल
आँखें नहीं कि आ रहूँ मैं भी तेरी निगाह में!

('नज़रें-मोहब्बते-अज़ल', अनादि प्रेम की भेंट में)

वस्तुतः मुझे सन्देह है कि हम 'जमाल' के अतिरिक्त अभी और किसी का नाम—या 'जमाल' का नाम भी आधुनिक युग के ऊँचे पुरुष कवियों के साथ ले सकते हैं। तथापि इनके युग की साहित्यिक आयु अभी भी बहुत कम है, और नये प्रयोगों और प्रकारों के प्रभाव से कविता अधिक अनुकरण-मुक्त, स्वाभाविक और निजत्वपूर्ण होती जाएगी, इसमें संशय नहीं। विविध साधारण विषयों से काव्य-स्फूर्ति प्राप्त करने वालियों में इकबाल गौहर 'हूर' (मेरठी), खुरशीद इकबाल हया' (मेरठी), 'पिनहाँ' (बरेलवी), 'शमीम' (लखनवी) और स्व० मंझों बेगम 'मीम० बे०' लखनवी उल्लेखनीय हैं।

स्व० मंझोबेगम का दुखद जीवन कहीं यदि उनकी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा का विकास का अवसर देता, तो स्त्री कवियों में उनका स्थान सम्भवतः आज सर्व-प्रथम होता। कविता लिखना उनके लिए कितना सुगम-स्वभाविक था, यह मृत्यु के उपरान्त उनके पत्रों से सग्रहीत उन विभिन्न-विषयक कविताओं से प्रकट होता है, जो सन् १९२९ में 'शमए खामोश' के नाम से प्रकाशित हुई। इन कविताओं में कुछ अजाने रूप से एक स्वस्थ वातावरण सन् १९२० के आन्दोलन का फैला हुआ है। चर्खे पर तो एक गीत भी है। इन रचनाओं का बहुत-सा भाग प्रौढ नहीं हो पाया है, पर प्रसाद गुण की इनमें कमी नहीं। कवि का करुण व्यक्तित्व पाठक के हृदय पर सदैव को अंकित हो जाता है। मुझे डर है कि संक्षिप्त उद्धरण से इन कविताओं का सजल सौंदर्य टूटकर बिखर जायगा। तथापि इनकी शैली का अन्दाज़ हम कुछ 'बिछुडे की याद' की इन आरम्भिक पंक्तियों में देख सकते हैं।

....

तुम्हें जुदा हुए मुझसे गुजर चुका इक साल
मगर न हो सका अबतक कुछ इनकशा फे हाल

('इनकशा फे-हाल,' हाल खुलना, मालूम होना)

है हर घड़ी दिले-ग़मदीदा औ' तुम्हारा ख्याल
कि जिन्दगी हमे दो दिन की, हो गयी है वबाल !

('दिले गमदीदा' दुःख ही दुःख देखनेवाला हृदय)

बताओ ज़ेरे-जमीं किस तरह गुजरती है ?
इफ़ाका दर्दे दरूँ में है, या वही अहवाल ?

('जेरे,जमीं,' जमीन के नीचे , दूसरी पक्ति—कुछ आन्तरिक पीड़ा में अन्तर है, या कि वही हालत है ?)

वो इजतराब, वो बेचैनियाँ मिटीं कि नहीं,
कि जिनसे बैठना-उठना भी हो गया था मुहाल ?

('इजतराब,' बेचैनी)

जो हिस हो रूह में कुछ भी, तो एक दिन, लिल्लाह'
सुनाओ ख्वाब में आकर मुफस्सिल अपना हाल । ''

(हिस,' हिलने की शक्ति , 'लिल्लाह,' ईश्वर के लिए , 'ख़ाब,' स्वप्न , 'मुफ़स्सिल,' बिस्तार से)

इकबाल गौहर में तन्मयता और भावुकता अच्छी है, पर अभिव्यक्ति में शब्दों का मितव्यय नहीं रहता। 'अल्लामा राशिदुल खैरी का पयाम' इनकी एक बहुत सफल कविता है'। बहरहाल :"प्रेमसागर की रात" के कुछ शेर देखिये :—

...मैं सबसे दूर होती जा रही हूँ,
मुझे हर चीज़ छोड़े जा रही है।
तसव्वुर में है इक गुज़रा जमाना,
फिर इक उम्मीद दिल गर्मा रही है।
तबाही में मुझे डाला है जिसने,
वही उम्मीद फिर बहका रही है।
शकिस्ता और तनहा मेरी कश्ती,
धुँधलके में भटकती जा रही है।

('तसव्वुर', ध्यान, कल्पना , 'शकिस्ता', टूटी हुई)

'हया' की रचनाएँ दोष रहित अवश्य होती हैं , पर बहुधा नीरस हो जाती हैं।

जोशीली नज़्मों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण नाम सरदार अख़्तर बेगम 'अख़्तर' का है, जिन्होंने अल्पायु में ही अपनी कविताओं में ऊँची प्रतिभा का सबूत दिया है। आपका जन्म सन् १९१८ ई० में हैदराबाद (दखिन) में हुआ। सन् ३७ में आपने पर्दे को तिलांजलि दे दी, और देश और मिल्लत की सेवा को अपना कार्यक्रम बना लिया। 'शायराने-अहदे-हाज़िर से' शायराए-मशरिक का खिताब' (पूर्वीय कवयित्री का समकालीन कवियों को सम्बोधन) नामक रचना का एक ही बन्द देखियेः—

ख़ाब से बेदार हो, ए नौहाख़ाने-हस्तो-बूद
दावते फ़िक्रो-अमल होता है शायर का वजूद
लानत ऐसी ज़िन्दगी पर जिसका मकसद हो जमूद,
ज़िन्दगी तो दर हकीकत है मुसल्सिल इज़्तराब;
इन्क़लाब, एशायराने-अहदे-हाज़िर इन्क़लाब!

ए जीवन का शोक गान सुनाने वालो, स्वप्न से जागो! कवि का अस्तित्व ही स्वयं विचार और कर्म का निमन्त्रण है। हेय है ऐसा जीवन, जिसका अन्त जड़ता हो! जीवन तो वास्तव में चिर-अस्थिरता, चिर-व्याकुलता है, ऐ प्रस्तुत युग के कवियो! इनकलाब पैदा करो!

आज यदि कवि-कार्य दुस्तर हो गया है, तो महिलाओं के लिये वह अब और भी कम साध्य है, जब तक कि उनमें क्रान्ति,—और अधिक क्रान्ति, न पैदा हो। भावनाओं की उर्वर भूमि आज राजनीति और समाज और शासन के विभिन्न आधार प्रणालियों के व्यापक संघर्ष से कंटकाकीर्ण हो गयी है। ऐसे वातावरण में देश और समाज के सांस्कृतिक मूल आधारों का नवीन और अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से अध्ययन किये बिना, कला सृष्टि के लिये सार्थक अनुभूतियों की गहनता नहीं प्राप्त हो सकती। महिलाओं में सामाजिक उत्थान के साथ जब तक सांस्कृतिक जागृति यथार्थ और व्यापक रूप में नहीं होगी, कला अथवा साहित्य, विज्ञान अथवा दर्शन, किसी भी क्षेत्र में उनकी सफलता का तल साधारणतया पुरुषों से सचमुच बहुत नीचा रहेगा। अभी अपनी समस्याओं पर उनका निजी दृष्टिकोण क्या है, यह उनकी कृतियों से हम स्पष्ट तौर से

नहीं समझ पा रहे हैं। जैसे-जैसे उनका अधिकार अपने क्षेत्र में, और अपने विषयों में, अध्ययन और अनुभव द्वारा गहरा और पूर्ण होता जायगा, उनकी कृतियों में हम अधिक शक्ति सौन्दर्य और सत्य पाएँगे।

['रूपाभ'..... १९३९]